

श्री चन्द्रधि महात्मा प्रणीत

# पंचसंग्रह

[बंधक-प्रलयणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणर्थ्य प्रवर्तक न्तर्धर्मके सरी  
श्री मिश्रीमल जी महाराज

सम्प्रेक्ष

श्री सुकनमुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

श्री चन्द्रधिं महस्तर प्रणीत

# पंच संग्रह

[बंधक-प्रलेपणा अधिकार]

(मूल, शब्दार्थ, विवेचन युक्त)

.....

हिन्दी व्याख्याकार

श्रमणसूर्य प्रदर्शक न्यूधरेसरी  
श्री मिश्रीमल जी महाराज

सम्प्रेरक

श्री सुकन्मुनि

सम्पादक

देवकुमार जैन

प्रकाशक

आचार्य श्री रघुनाथ जैन शोध संस्थान, जोधपुर

# प्रकाशकीय

जैनदर्शन का मर्म समझना हो तो 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अत्यावश्यक है। कर्मसिद्धान्त का सबगीण तथा प्राभाणिक विवेचन 'कर्मग्रन्थ' (छह भाग) में बहुत ही विशद रूप से हुआ है, जिनका प्रकाशन करने का गौरव हमारी समिति को प्राप्त हुआ। कर्मग्रन्थ के प्रकाशन से कर्मसाहित्य के जिज्ञासुओं को बहुत लाभ हुआ तथा अतेक धीरों से आज उनकी मार्ग बराबर आ रही है।

कर्मग्रन्थ की भाँति ही 'पंचसंग्रह' ग्रन्थ भी जैन कर्मसाहित्य में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसमें भी विस्तार पूर्वक कर्म-सिद्धान्त के समस्त अंगों का विवेचन है।

पूज्य गुरुदेव श्री महाधरकेसरी मिश्नीमल जी महाराज जैनदर्शन के प्रौढ़ विद्वान् और सुन्दर विवेचनकार थे। उनकी प्रतिभा अद्भुत थी, ज्ञान की तीव्र सृच अनुकरणीय थी। समाज में ज्ञान के प्रचार-प्रसार में अत्यधिक सुधि रखते थे। यह गुरुदेवश्री के विद्यानुराग का प्रत्यक्ष उदाहरण है कि इतनी बृद्ध अवस्था में भी पंचसंग्रह जैसे जटिल और विशाल ग्रन्थ की व्याख्या, विवेचन एवं प्रकाशन का अद्भुत, साहसिक निर्णय उन्होंने किया और इस कार्य को सम्पन्न करने की समस्त व्यवस्था भी करवाई।

जैनदर्शन एवं कर्मसिद्धान्त के विशिष्ट अभ्यासी श्री देवकुमार जी जैन ने गुरुदेवश्री के मार्गदर्शन में इस ग्रन्थ का सम्पादन कर प्रस्तुत किया है। इसके प्रकाशन हेतु गुरुदेवश्री ने प्रसिद्ध साहित्यकार श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को जिम्मेदारी सौंपी और वि० सं० २०३६ के आश्विन मास में इसका प्रकाशन-मुद्रण प्रारम्भ कर दिया

गया। गुरुदेवश्री ने श्री सुराना जी को दायित्व सौंपते हुए फरमाया—  
‘मेरे शरीर का कोई भरोसा नहीं है, इस कार्य को शीघ्र सम्पन्न कर  
लो।’ उस समय यह बात सामान्य लग रही थी, किसे ज्ञात था कि  
गुरुदेवश्री हमें इतनी जल्दी छोड़कर चले जायेंगे। किंतु क्रूर काल  
की विडम्बना देखिये कि ग्रन्थ का प्रकाशन चालू ही हुआ था कि  
१७ जनवरी १९६४ को पूज्य गुरुदेव के आकस्मिक स्वर्गवास से सर्वत्र  
एक स्तब्धता व रिक्तता-सी छा गई। गुरुदेव का व्यापक प्रभाव समूचे  
संघ पर था और उनकी दिवंगति से समूचा अभिण्ठसंघ ही अपूरणीय  
क्षति अनुभव करने लगा।

पूज्य गुरुदेवश्री ने जिस महाकाय ग्रन्थ पर इतना शम किया और  
जिसके प्रकाशन को भावना लिये ही चले गये, वह ग्रन्थ अब पूज्य  
गुरुदेवश्री के प्रधान शिष्य महावरभूषण श्री सुकन्तमुनि जी महाराज  
के मार्गदर्शन में सम्पन्न हो रहा है, यह प्रसन्नता का विषय है। श्रीयुत  
सुराना जी एवं श्री देवकुमार जी जैन इस ग्रन्थ के प्रकाशन-मुद्रण सम्बन्धी  
सभी दायित्व निभा रहे हैं और इसे शीघ्र ही पूर्ण कर पाठकों के समक्ष  
रखेंगे, यह हड्ड विश्वास है।

श्री महावरके सरी साहित्य प्रकाशन समिति अपने प्रकाशन सम्बन्धी  
कार्यक्रम में इस ग्रन्थ को प्राथमिकता देकर पूर्ण करवा रही है। इस  
भाग के प्रकाशन में व्यावर निवासी श्रीमान् मीठालाल जी तालेडा ने  
अपने स्व० पिताश्री धेवरचन्द जी तालेडा की पुण्यस्मृति में अर्थ-  
सहयोग प्रदान करने का वचन दिया है, समिति आपके अनुकरणीय  
सहयोग के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करती है और आशा करती है कि  
भवित्व में भी इसी प्रकार अन्य उदार सद्गुहस्थों का सहयोग प्राप्त  
होता रहेगा।

मन्त्री

श्री महावरके सरी साहित्य प्रकाशन समिति  
व्यावर

# मृगावली

श्रीमद्ददेवेन्द्रसुरि विरचित कर्मग्रन्थों का सम्पादन करने के सन्दर्भ में जैन कर्मसाहित्य के विभिन्न ग्रन्थों के अवलोकन करने का प्रसंग आया। इन ग्रन्थों में श्रीमदाचार्य चन्द्रघिं महत्तरकृत 'पञ्चसंप्रहृ' प्रमुख है।

कर्मग्रन्थों के सम्पादन के समय यह विचार आया कि पञ्चसंप्रहृ को भी सर्वजन मुलम, पठनीय बनाया जाये। अन्य कार्यों में लगे रहने से उत्कर्ष तो कार्य प्रारम्भ नहीं किया जा सकता। परम्परु विचार तो पा ही और जाती (भरतवाङ्) ऐ विचारित तुल्य गुरुदेव मरुधरकेसरी, श्रमणसूर्य श्री मिश्रीमल जी म. सा. की सेवा में उपस्थित हुआ एवं निवेदन किया—

भन्ते ! कर्मग्रन्थों का प्रकाशन तो हो चुका है, अब इसी क्रम में पञ्चसंप्रहृ को भी प्रकाशित कराया जाये।

गुरुदेव ने फरमाया विचार प्रवास्त है और चाहता भी हूँ कि ऐसे ग्रन्थ प्रकाशित हों, मानसिक उत्साह होते हुए भी शारीरिक स्थिति साथ नहीं दे पाती है। तब मैंने कहा—आप आदेश दीजिये। कार्य करना ही है तो आपके आशीर्वाद से सम्पन्न होगा ही, आपश्री की प्रेरणा एवं मार्गदर्शन से कार्य शीघ्र ही सम्पन्न होगा।

'तथास्तु' के मांगलिक के साथ यथा की मुरुता और नम्भीरता को सुगम बनाने हेतु अपेक्षित मानसिक श्रम को नियोजित करके कार्य प्रारम्भ कर दिया। 'शनैः कथा' की गति से करते-करते आधि से अधिक ग्रन्थ गुरुदेव के बगड़ी सज्जनपुर चानुमसि तक लैयार करके सेवा में उपस्थित हुआ। गुरुदेवश्री ने प्रमोदभाव घ्यत कर फरमाया— चरेवंति-चरेवेति ।

इसी बीच शिवशर्मसुरि विरचित 'कर्मपयडी' (कर्मप्रकृति) ग्रन्थ के सम्पादन का अवसर मिला। इसका लाभ यह हुआ कि बहुत से जटिल माने जाने वाले स्थलों का समाधान मुगमता से होता गया।

अर्थवोध की सुगमता के लिए ग्रन्थ के सम्पादन में पहले मूलगाथा और यथाक्रम शब्दार्थ, गाथार्थ के पश्चात् विशेषार्थ के रूप में गाथा के हार्द को स्पष्ट किया है। यथास्थान ग्रन्थान्तरों, भत्तान्तरों के मन्तव्यों का टिप्पण के रूप में उल्लेख किया है।

इस समस्त कार्य की सम्पत्ति पूज्य गुरुदेव के वरद आशीर्वादों का सुफल है। एतदर्थं कृतज्ञ हूँ। साथ ही मरुब्रह्मरत्न श्री रजतमुनि जी एवं मरुब्रह्मभूषण श्री सुकनमुनिजी का हार्दिक आभार मानता हूँ कि कार्य की पूर्णता के लिए प्रतिसमय प्रोत्साहन एवं प्रेरणा का पाथेय प्रदान किया।

ग्रन्थ की मूल प्रति की प्राप्ति के लिए श्री लालभाई दलपतभाई संस्कृति विद्याभन्दिर अहमदाबाद के निदेशक एवं साहित्यानुरागी श्री दलमुखभाई मालवणिया का सल्लीह आभारी हूँ। साथ ही वे सभी धन्यवादाहुं हैं, जिन्होंने किसी न किसी रूप में अपना-अपना सहयोग दिया है।

ग्रन्थ के विवेचन में पूरी सावधानी रखी है और व्यान रखा है कि संद्वान्तिक भूल, अस्पष्टता आदि न रहे एवं अत्यथा प्ररूपणा भी न हो जाये। किर भी यदि कहीं चूक रहे भई हो तो विद्वान् पाठकों से निवेदन है कि प्रमादजन्य स्खलना मानकर त्रुटि का संशोधन, परिमार्जन करते हुए सूचित करें। उनका प्रयास मुश्त्र ज्ञानवृद्धि में सहायक होगा। इसी अमुग्रह के लिए सानुरोध आग्रह है।

भावना तो यही थी कि पूज्य गुरुदेव अपनी कृति का अबलोकन करते, लेकिन सम्भव नहीं हो सका। अतः 'कालाय तस्मै नमः' के साथ-साथ विनाश अद्वाजलि के रूप में—

त्वदीयं वस्तु गोविन्द सुभवेव समर्पयते ।

के अनुसार उन्हीं को सादर समर्पित है।

खजांची मोहल्ला  
बीकानेर, ३३४००१

विनीत  
देवकुमार जैन

# प्राक्कथन

यह पंचसंभूत गम्य का 'बधक-प्रस्तुति' नामक अधिकार है। प्रथम योगोपयोगमार्गणा अधिकार से अनन्तरवर्ती होने से इसका कम दूसरा है।

योगोपयोगमार्गणा के पञ्चात् बन्धक-प्रकल्पका इसलिए की है कि जो योग और उपयोग दोनों से सहित हैं, वे ही जीव कर्म के बन्धक हैं; उपयोग जीव का स्वभाव है। जो उपयोगकाल हैं, उपयोग में ही अवस्थित हैं, वे जीव कर्म के बन्धक नहीं होते हैं। लेकिन उपयोग के साथ जब तक आत्मा के बीर्य गुण की परिस्पन्दनात्मक रूप शक्ति—योग का सम्बन्ध है, सभी तक जीव कर्म के बन्धक हैं। अथवा यह सरष्ट करने के लिए की है कि पूर्व में जिन जीवभेदों में योग और उपयोग के विविध भेदों का अन्वेषण किया यथा है, वे ही संसारी जीव कर्म के बन्धक हैं, अन्य नहीं। योग और उपयोगकाल जीवों का सम्बन्ध कर्म से है।

संसारी जीव कर्म के बन्धक हैं। अतएव प्रारंभिक होने से कर्म की कार्य-मयदा के बारे में यहाँ कुछ संकेत करते हैं।

कर्म का मुख्य और अनिवार्य जीव को संसार में रोक रखना है। परावर्तन कारणे रहना है। परावर्तन संसार का दूसरा नाम है। इव्य, शोश्य, काल, भाव के भेद से और भव को जोड़ देने से परावर्तन चार या चाँच प्रकार का है। कर्म के कारण ही जीव इन परावर्तनों में घूमता-फिरता है। चार वृत्ति और चौरासी लाल योनियों में रहे हुए जीवों की जो विविध अवस्थायें होती हैं, उनका मुख्य कारण कर्म है। जब तक जीव के साथ कर्म का सम्बन्ध है तब तक वह परावर्तन रूप संसार में इस प्रकार से घूमता रहता है—

जो खलु संसारस्थो जीवों तस्तो दु होवि परिणामो ।

परिणामादो कर्मं कम्मादो होवि गदोकु यदो ॥

गदिसधिगदस्त देहो देहस्तो इविषाणि जायते ।

तेहि पु किलयग्रहणं दहो रामो अ दोहो था ॥

जीवि जीवस्तेवं भावी संसरशक्तयात्मनः ।

—पञ्चांश्यादी १२८-२६-३०

जीव संसार में स्थित है उसके रागद्वेष रूप परिणाम होते हैं । परिणामों से कर्म बनते हैं । कर्मों से गतियों में जन्म जेना पड़ता है, इससे शरीर होता है । शरीर के प्राप्त होने से इन्द्रियां होती हैं । इन्द्रियों से विषयों का प्रहण होता है । विषयग्रहण से राग और द्वेष रूप परिणाम होते हैं । इस प्रकार जीव संसार-थक में पड़ा है उसकी यह अवस्था होती है ।

आचार्य समन्तबद्र ने संसार में कर्म के कार्य का संकेत इस प्रकार किया है—

**कामादिप्रभविष्यतः कर्मवर्णानुकृपतः ।**

—आपसमीक्षा

जीव की काम-क्रोष आदि रूप विविध अवस्थायें अपने-अपने कर्मवन्ध के अनुरूप होती हैं । इसका कारण यह है कि मुक्त दशा में जीव की ओ स्वाभाविक परिणति होती है, उसमें पृथक्-पृथक् निमित्तकारण नहीं, किन्तु संसारी जीव की प्रतिवन्ध की परिणतियां जुड़ी-जुड़ी होती रहती हैं । इसलिए उनके अलग-अलग निमित्तकारण माने गये हैं, जो आत्मा के साथ संस्कार रूप में सम्बद्ध होते रहते हैं और उन्नुकूल परिणति उत्पन्न करने में सहायता देते हैं । जीव की मुद्रिता और अमुद्रिता उन निमित्तों के सद्भाव, असद्भाव पर आधारित है । यदि तक ये निमित्त एक कोआवगाह रूप से संश्लिष्ट रहते हैं, तब तक अमुद्रिता नहीं होती है और इनका सम्बन्ध स्फूटते ही जीव युद्ध दशा की प्राप्त हो जाता है । जनदर्शन में इन्हीं निमित्तों की कर्म कहा है ।

पूर्वोक्त संकेतों से कर्म की कार्यभर्यादा जाति हो जाती है कि कर्म के निमित्त से जीव की विविध प्रकार की अवस्थायें होती हैं और जीवों में ऐसी योग्यता आती है, जिससे योग द्वारा अथायोग्य शरीर, वचन और मन के योग्य पुद्गलों को प्रहण कर उन्हें अपनी-अपनी योग्यतानुसार परिणमते हैं ।

लेकिन जनसाधारण का यह विचार है कि कर्मोदय से बाह्य सुख-दुःख के

कारण भिजते हैं। शरीर की निरोगता, सशोदता, सुन्दरता, सामर्थ्य, प्रृथा, तृष्णा, खेद, पीड़ा आदि का कारण कर्म है। वास्तु इष्ट पवार्य, स्त्री, पुत्र, इन, मिश्र आदि सुख-दुःख के निमित्तभूत हो सकते हैं। परन्तु जिसका उपर निर्देश किया गया है उस कार्यमर्यादा का विचार करने पर वह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म व्याधि सम्पत्ति के संयोग-वियोग का कारण नहीं है। वहेंकि अस्तरण व्याधिता के बिना वास्तु सामग्री का कोई भृत्य नहीं है। ऐसे कि वीतराम योगीजनों के समक्ष प्रबल राग की सामग्री उपस्थित होने पर भी राग पैदा नहीं होता है।

यद्यपि स्थिति ऐसी है, फिर भी जनसाधारण में प्रवर्तीपान कर्मविषयक उत्तर धारणा का कारण नैयायिकों का कर्मविषयक दृष्टिकोण है : वे कार्यमात्र के प्रति कर्म को कारण मानते हैं। वे कर्म को जीव / जीवन निष्ठ मानते हैं। उनका मत है कि जीवनगत विषमताओं का कारण कर्म तो है ही, साथ ही वह अचेतन-गत सब प्रकार की विषितहार्थी उत्तर युक्ति अनुसारिक लंबोद्वारे लग भी जनक है। उनके मत से जिसने भी कार्य होते हैं, वे किसी ज किसी के उपभोग के योग्य होने से उनका कर्ता कर्म ही है।

नैयायिकों ने समवायी, असमवायी और निमित्त यह तीन प्रकार के कारण माने हैं। बिस द्रव्य में कार्य पैदा होता है, वह द्रव्य कार्य के प्रति समवायीकारण है। संयोग असमवायीकारण है और अन्य सहकारी सामग्री निमित्तकारण है। काल, दिशा, ईश्वर और कर्म ये कार्यमात्र के प्रति निमित्तकारण हैं। इनकी सहायता के बिना किसी भी कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उन्होंने ईश्वर और कर्म को कार्य के प्रति साधारण कारण होने पर उपर्युक्तरण इस प्रकार किया है कि जिसने भी कार्य होते हैं, वे सब जीवनाधिष्ठित ही होते हैं। इसलिए ईश्वर सबका साधारण कारण है। ईश्वर के सर्वत्रिकारण होने पर भी जगत में विषमता क्यों घटात है? तो इसका उत्तर नैयायिकों ने कर्म को स्वीकार करके दिया है। वे जगत की विषमता का कारण कर्म मानते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर जगत का कर्ता सो है परन्तु इसकी रचना प्राणियों के कर्मनुसार की है। इसमें उसका कुछ भी वोष नहीं है। जीव जैसा करता है, उसी के अनुसार उसे योग्य और भोग मिलते हैं। यदि कर्म अच्छे करता है तो अच्छी योग्यनि और

अच्छे भोग मिलते हैं और बुरे कर्म करने पर बुरी योगी और बुरे भोग मिलते हैं। यही चात सत्त कवि तुलसीदास जी ने इन शब्दों में कही है—

करम प्रधान विश्व करि राखा,

जो अस करहि सो तस कल चाखा ।

अच्छे सोक के स्वप्न में नैयायिकों की कल्पना स्वर्ण तक सीमित है और उसकी प्राप्ति अच्छे कर्म करने के साथ-साथ ईश्वरेष्ठा पर निर्भर है।

कर्मवाद को स्वीकार करने में नैयायिकों की उक्त युक्ति है। वैशेषिकों की भी इससे मिलती-जुलती युक्ति है। वे भी नैयायिकों के समान ऐसन और अचेतन गत सब प्रकार की विषमता का साधारण कारण कर्म भानते हैं। यथापि इन्होंने प्रारम्भ में ईश्वरवाद पर जोर नहीं दिया, परन्तु परवर्ती काल में इन्होंने भी उसका अस्तित्व स्वीकार कर लिया।

इस ईश्वरकर्तुंत्व को स्वीकार करने का परिणाम यह हुआ कि आत्मा का अपने अन्तर्मुख में विद्यमान अनन्त शक्ति के प्रति विश्वास छगमगा गया, वह अपने आपको दीन, हीन, अस समझ कर किकर्तव्यविषयमुङ्ग हो गई और नियति के हाथों अपने आपको सौंप दिया। भाष्य की प्रवलसा का प्रचार-प्रसार करने के लिये अनेक सुमायितों की रचना हुई। जैसे कि पुहष का मार्य जागने पर घर बैठे ही रसन मिल जाते हैं और भाष्य के अभाव में समुद्र में पैठने पर भी उनकी प्राप्ति नहीं होती है। सर्वत्र भाग्य ही कलता है, लिचा और पौसष कुछ काम नहीं आता है।

लेकिन जैनदर्शन में बताये गये कर्मसिद्धान्त के विवेचन से इस भत का समर्थन मही होता है। जैनदर्शन में कर्मवाद की प्राणप्रतिष्ठा मुख्यतया आध्यात्मिक आधार पर हुई है। वह ईश्वर को तो भानता ही नहीं और निमित्त को स्वीकार करके भी कार्य के आध्यात्मिक विश्लेषण पर अधिक जोर देता है। नैयायिक-वैशेषिकों ने कार्य-कारणवाद की जो रेता खींची है, वह उसे भान्य नहीं है। उसका भत है कि व्यायिक्रम से उत्पन्न होना, नष्ट होना और धूम रहना यह प्रत्येक घरतु का स्वभाव है। जितने प्रकार के पदार्थ हैं, उन सबमें यह क्रम चालू है। अनादि काल से यह क्रम चल रहा है और अनन्त काल तक चलता रहेगा। इसमें किसी प्रकार का व्यतिक्रम अन्त आला नहीं है। इसी से

जीनदर्शन ने जगत को अकृतिम और अनादि बताया है। इसीलिए वह जगत के कार्यों के लिए किसी कर्ता की आवश्यकता स्वीकार नहीं करता है, किन्तु जीवमात्र में व्याप्त विषमताओं आदि के कारणस्य में कर्म को स्वीकार करता है। वह जीव की विविध प्रत्यक्षियों, करी, प्रिद्व, प्राणी, व्याधि, वधन और मन के प्रति कर्म को निभित्तकारण मानता है एवं अन्य कार्य अपने अपने कारणों से होते हैं। कर्म उनका कारण नहीं है। उदाहरणार्थं पुत्र का प्राप्ति होना, उसका मर जाना, व्यापार में लाभ-हानि होना आदि ऐसे कार्य हैं, जिनका कारण कर्म नहीं है। किन्तु धर्म से इन्हें कर्मों का कार्य समझा जाता है। पुत्र की प्राप्ति होने पर मनुष्य धर्मवश उसे अपने शुभ कर्म का कार्य समझता है और उसके मर जाने पर धर्मवश उसके अशुभ कर्म का कार्य भास लेता है, लेकिन क्या पिता के अशुभोदय से पुत्र की मृत्यु या पिता के शुभोदय से पुत्र की उत्पत्ति सम्भव है ? कसी नहीं। ये इष्टसंयोग या इष्टविद्योग आदि विद्वने भी कार्य हैं, वे अच्छे दूसरे कर्मों के कार्य नहीं हैं। जब प्रत्येक व्यक्ति के अपने-अपने कर्म हैं और उनका परिणाम वह स्वयं भोग करता है, तब एक के कार्य के लिये दूसरे को निभित्त कैसे कहा जा सकता है ?

कर्मों के भेद और उनके जो नाम गिनाये हैं और उनकी जो परिभाषायें हैं, उनको देखने से भी ज्ञात होता है कि वाह्य सामग्रियों की अनुकूलता और प्रतिकूलता में कर्म कारण नहीं है। ऐसा नहीं होता है कि पहले सातावेदनीय का उदय है और तब इष्टसामग्री की प्राप्ति होती है, किन्तु इष्टसामग्री का निभित्त पाकर सातावेदनीय का उदय होता है, ऐसा है। इसलिए निभित्त और बहुत है और कार्य दूसरी बात है। निभित्त को कार्य कहना उचित नहीं है।

यद्यपि जीन कर्मवाद की शिक्षाओं द्वारा यह बताया गया है कि फल से न कोई प्रूत होता है और व अदृश । यह भेद सनुष्यहृत है : एक के पास अधिक पूँजी का होना और दूसरे के पास कुटी कौड़ी का व होना, एक का बोटरों में घूमना और दूसरे को भीख मांगते हुए ढोलना, वह भी कर्म का फल नहीं है। क्योंकि यदि अधिक पूँजी को पुण्य का फल माना जाये तो अल्प-संतोषी और साधु दोनों ही पापी ठहरेंगे। किन्तु इन शिक्षाओं का जगता और साहित्य पर कोई असर नहीं हुआ। इसके वास्तविक कारण को सोचा

आपेक्षा इस सिद्धि के लिए नैयायिकों का ईश्वरवाद और कर्मवाद उत्तरदायी है। इसमें वर्णभेद, जात-पर्वत, सध्यन-निर्देश की दीक्षाएँ खड़ी की। ईश्वर, कर्म के नाम पर यह सब हमसे कराया गया। इसके साथ ही साहित्य में इन बातों का प्रतिपादन करके स्थायी रूप दे दिया गया।

अजैन लेखकों ने तो नैयायिकों के कर्मवाद का समर्थन किया ही किन्तु जैन लेखकों ने भी जो कथासाहित्य लिखा है, उसमें भी प्रायः नैयायिक कर्मवाद का समर्थन किया गया है। वे जैन कर्मवाद के आध्यात्मिक रहस्य को एक प्रकार से भ्रूलते गये। जैन कर्मवाद की सही हार्टिक्या है, प्राणिमात्र की कमां समझाना चाहता है, इसकी ओर कुछ भी निर्देश न करके नैयायिक कर्मवाद को व्यापक रूप दे दिया। अजैन लेखकों द्वारा और जैन लेखकों द्वारा लिखे गये कथासाहित्य को पढ़ जाइये, दोनों का एक ही हार्टिकोण है, एक ही हार्टिकोण से विचार करते हैं एवं प्रस्तुतीकरण का रूप भी समान ही है। पुण्य-पाप के वर्णन में दोनों की एकरूपता है। अजैन लेखकों की तरह जैन लेखक भी बाह्य आधारों को लेकर चले हैं, वे जैनमान्यता के अनुसार कभी के वर्णकरण और उनके अवान्सर भेदों को सर्वथा भ्रूलते गये। यही कारण है कि जैन कर्मसिद्धान्त का हार्दिक समझने के लिये सबक्षं जैनों में कोई उत्सुकता, आकर्षण या अग्रवाद देखने में भीही आया है। मात्र उपरी-उपरी कुछ ज्ञान प्राप्त करने अवधार परीक्षायियों द्वारा अन्यमनस्क भाव से अत्याधिक मात्रा में अध्ययन करने की प्रणाली है।

यद्यपि जैन कर्मसिद्धान्त के प्रति अलै ही स्वयं जैनों का उत्तम हार्टिकोण रहे, तब भी निराश होने की बात नहीं है। क्योंकि वर्तमान में जिस प्रकार से साहित्यिक अनुवीक्षन, परिशीलन एवं सुलनात्मक अध्ययन की प्रणाली बढ़ रही और संदान्तिक मान्यताओं को समझने की जिजासा प्रवर्धमान है, उससे विश्वास होता है कि पाठकगण जैन कर्मसिद्धान्त की गहनता का सही मूल्यांकन करेंगे। कर्म विषयक धारणाओं की अप्राकृतिक और अवास्तविक उलझनों से मुक्त होंगे, कर्मवाद के आध्यात्मिक रहस्य को हृदयंगम करेंगे।

#### विषयपरिचय

सामान्य से तो अधिकार में नामानुसार कर्म के बंधक संसारी जीवों की

विविध इण्टिकोणों से प्रकृपणा की है कि के गति, जाति आदि किन-किन रूपों में संसार में परिव्रमण कर रहे हैं, उनकी कितनी-कितनी स्थिति है, कितने समय तक एक भव में रहकर भवान्तर को प्राप्त करते हैं, उनकी भवान्तर की स्थिति कौसी होती है आदि । लेकिन विस्तार से इस प्रकृपणा के दो प्रकार हैं ।

प्रथम प्रकार प्रश्नोत्तर रूप है । ये प्रश्न हैं कि जीव क्या है ? जीव किसका स्वामी है ? जीव को किसने बनाया है ? जीव कहा रहता है ? जीव किसने काल तक रहने वाला है ? और जीव किसने और कौन-कौन से भावों से बुझ है ? इनमें अन्तों की अवधि के स्वतन्त्र अस्तित्व, अनादि-अनिधन सौलिक स्वरूप की व्याख्या की है । इस व्याख्या के द्वारा भूतचेतनावाल का निराकरण किया गया है । भूतचेतनावाली जीव के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं पर गृथी, जब आदि के संघोगसम्बन्ध से उत्पन्न और उनमें विकृति आने पर नाश होना मानते हैं आदि ।

जब जीव का स्वतन्त्र, सौलिक और अनादि-अनिधन अस्तित्व सिद्ध हो गया तब सत्पदप्रखण्डा, द्रव्यप्रमाण, क्षेत्र, स्पर्शना, काल, अन्तर, भाव, भाव और अल्पबहुत्व रूप प्रकृपणा के दूसरे प्रकार द्वारा वर्णक जीवों का विस्तार से वर्णन किया गया है ।

तरकादि गति, एकेन्द्रियादि जाति, गृथी आदि काय, पर्याप्त, अपराधि, सूक्ष्म, बादर, संभी-असंभी आदि जीवों के रहने का विचार सत्पदप्रखण्डा में किया गया है ।

जीव गृथ्य है अतएव जीवों को संलया का प्रसारण द्रव्यप्रमाण द्वारा वर्तलाया है ।

जीव किसने क्षेत्र को व्याप्त करके रहता है, इसका वर्णन क्षेत्रहार में किया है ।

जीवभेदों में से कौन किसने क्षेत्र का स्वर्ण कर सकता है, अर्थात् उनके पहुँचने की क्षेत्रसीमा क्या है ? यह वर्णन हपर्णसाङ्घार में किया है ।

कालद्वार के विवेचन के तीन रूप हैं—(१) एक भव की आयु रूप भव-स्थिति काल, (२) मरकर बारम्बार गृथीकायादि विवक्षित उसी काय में पुनः-पुनः

चलन्ति होने लेप कायस्थिति काल और (३) किसी भी विवक्षित गुणस्थान में एक जीव के रहने लेप गुणस्थानकाल। इन तीनों प्रकारों का बहुत ही विस्तार से वर्णन किया गया है।

अन्तरद्वार में विवक्षित भव की प्राप्ति के बाद पुनः उसी भव की जितने काल तक प्राप्ति न हो, उतने काल का वर्णन किया है। यह वर्णन एक और अनेक जीवों को आधार बना कर किया है।

भागद्वार और अल्पबहुत्यद्वार का वर्णन परस्पर एक दूसरे से मिलता-जुलता होने से पृथक् से निर्देश न करके अल्पबहुत्यद्वार के साथ ही भागद्वार का निर्देश किया है। अल्पबहुत्यद्वार में किन जीवों से कौन जीव कितने बलपूर्ण अथवा अधिक हैं, इसको स्पष्ट किया है।

भागद्वार में औपशमिक आदि पांच मावों में से किन जीवों में कौन-कौन से माव हीसे हैं, इसका कथन है।

यह समस्त वर्णन चौथह जीवस्थानगत एक और अनेक जीवों और गुणस्थानों को आधार बनाकर किया है। इस प्रसंग में परास्थान द्रव्य, ज्ञेय, काल और माव इन चार पुढ़मलपरावर्तनों और सात समुद्रधातों का स्वरूप भी बतलाया है।

अधिकार में कुछ औरासी गाथायें हैं और अन्तिम गाथा में विवेचन की पूर्णता का संकेत करते हुए आगे तीसरे अधिकार के वर्णविषय का सल्लेख किया है।

यह अधिकार का संक्षिप्त परिचय है।

हजारी भौत्तका  
बीकानेर, ३३४००१

—देवकुमार जैन  
सम्पादक

## बंधक-प्ररूपणा अधिकार

### विषयानुक्रमणिका

गाथा १	३-५
कर्मबन्धक जीवों के कर्त्तव्य की प्रतिक्रिया	३
‘विवन्धणा’ और ‘हु’ एवं के विशेष अर्थ का स्पष्टीकरण	४
गाथा २, ३	४-२०
किम् आदि उह प्रश्नोत्तरों द्वारा जीव विषयक निरूपण	५
ओपरमिक आदि भावों का स्वरूप और उनके द्विकारि भव्य भवों के अधिकारी	११
गाथा ४	१८
संसारी जीवों में सम्भव शरीर	२०
गाथा ५	२२-२४
सत्पद-प्ररूपणा	२२
गाथा ६	२५-२६
गुणस्थानों की सत्पद-प्ररूपणा	२५
गाथा ७	२६-२८
अनियतकालमावौ सासादन आदि आठ गुणस्थानों के संयोग से संभव भेदों का करणसूत्र	२६
गाथा ८	२८-३१
उक्त भेद-भेदों की गणना की दूसरी विधि	२८
गाथा ९	३१-३३
द्रव्यप्रसाण प्ररूपणा	३१
गाथा १०, ११, १२	३३-३६
एकेन्द्रिय से असंज्ञी पंक्तेन्द्रिय तक के जीवों का प्रसाण विवेचन	३३

गाथा १३	३६—४४
नारक जीवों का प्रमाण	४०
गाथा १४	४२—४५
व्यंतर देवों का प्रमाण	४४
गाथा १५	४५—४६
ज्योतिष्क देवों का प्रमाण	४६
गाथा १६	४७—४८
कैमानिक देवों का प्रमाण	४७
गाथा १७, १८	४८—४९
रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों, भवनपति और सौधर्म स्वर्गों के देवों की संख्या में प्रयुक्त असंख्याता का स्पष्टीकरण	५०
गाथा १९	५१—५२
प्रकाशान्तर से रत्नप्रभापृथ्वी के नारकादि की संख्या सम्बन्धी श्रेणी का प्रमाण	५१
गाथा २०	५३
दत्तर वैकियशशीरी धंजेन्द्रिय तिर्यचों का प्रमाण	५३
गाथा २१	५३—५४
भूमुखों की संख्या का प्रमाण	५३
गाथा २२	५४—६०
आदि के सात मुण्डस्थानवस्तु की जीवों का प्रमाण	५६
गाथा २३, २४	६०—६४
आठवें से चौदहवें गुणस्थान तक के जीवों का संख्याप्रमाण	६१
गाथा २५	६४—६६
जीवस्थानों की लेखप्रस्तुता	६५
गाथा २६	६७—६८
गुणस्थानापेक्षा जीवप्रमाण	६७
गाथा २७, २८	६८—७२
समुद्रकात-विवेचन	६८

वाचा ३६	७१-७२
जीवशिक्षापेक्षा स्पर्शना	७२
भित्यात्म व सद्योगिकेवली गुणस्थान की स्पर्शना	७३
वाचा ३०	७३
मिश्र से लेकर क्षीणमोह पर्यन्त गुणस्थानपेक्षा स्पर्शना-प्रकृष्टा	७४
वाचा ३१, ३२, ३३	७५-८५
पूर्व गायोकत स्पर्शना का स्पष्टीकरण	७६
काल-प्रकृष्टा की उत्थानिका	८६
वाचा ३४	८६-८७
सात अपर्याप्तक एवं सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तक की जघन्य-उत्कृष्ट वै	
तथा वादर एकेन्द्रियादि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तकः पर्यन्त की	
जघन्य भवस्थिति	
वाचा ३५	८७-९२
बादर एकेन्द्रियादि संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तकों पर्यन्त की उत्कृष्ट भव- ९२	
स्थिति, संज्ञी जीवों की चकुर्णति भेदापेक्षा भवस्थिति	
वाचा ३६	९२-९४
एक जीव की अपेक्षा भित्यात्मगुणस्थान का काल	९४
वाचा ३७	९४
पुद्गलपरावर्तन के भेदों के नाम और प्रकार	९४
वाचा ३८	९५-९७
इत्य पुद्गलपरावर्तन की व्याख्या	९५
वाचा ३९	९८-९९
ओव पुद्गलपरावर्तन की व्याख्या	९९
वाचा ४०	१००-१०१
काल पुद्गलपरावर्तन का लक्षण	१००
वाचा ४१	१०२-१०४
भाव पुद्गलपरावर्तन-विरूपण	१०२

गाथा ४२	१०४—१०६
सासादन, विश्व गुणस्थान, सम्यक्करविक का काल	१०४
गाथा ४३	१०६—१०८
अविरत, देशविरत गुणस्थान का काल	१०६
गाथा ४४	१०८—११०
अमर, अप्रभल्ल संयत गुणस्थान का काल	१०८
गाथा ४५	१११—११३
बपूर्वकरणादि गुणस्थानों का काल	१११
गाथा ४६	११३—११५
एकेन्द्रियादि की कायस्थिति	११४
गाथा ४७	११५—११६
सनुष्य और तिर्यच की कायस्थिति का उत्कृष्ट प्रमाण	११६
गाथा ४८	११६—११८
पुरुषवेद, धैशित्व की कायस्थिति	११७
स्त्रीवेद, नपुसकवेद की कायस्थिति	११८
गाथा ४९	१२०—१२२
बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियों की कायस्थिति	१२०
अपर्याप्त, सूक्ष्म, साधारण की कायस्थिति	१२१
गाथा ५०	१२२—१२४
बादर, बादर उत्पत्तिकाय की कायस्थिति	१२२
गाथा ५१	१२४—१२६
बादर सूक्ष्म पृथ्वीकायादि की कायस्थिति	१२४
गाथा ५२, ५३	१२६—१२८
अनेक जीवापेशा गुणस्थानों का काल	१२७
गाथा ५४	१२८—१२९
अनेक जीवापेशा एकेन्द्रियादि में निरंतर उत्पत्तिकाल	१२९

गाथा ५५		१३८—१३९
उपशमश्रेणि, उपशांतमोहणस्थान, पञ्चनिधि गर्भज मनुष्यत्व, १३२ अनुत्तरदेवत्व, सातवी पृथ्वी का नारकत्व और क्षपकथेर्णि की प्राप्ति का अनेक जीवापेक्षा जबन्य उल्कुष्ट काल	१३२	
गाथा ५६		१३२—१३४
एक से बाठ समय तक निरंतर भौति में जाने वाले जीवों की संख्या	१३३	
गाथा ५७		१३४—१३७
गर्भज तिर्थज, मनुष्य, देव, नारक, संयुक्तिम अनुष्य, चिक- लेन्द्रिय, असंशी पञ्चनिधि का उत्पत्ति की अपेक्षा विरहकाल	१३५	
गाथा ५८		१३७—१४१
जीवस्थानों में एक जीवापेक्षा अन्तर	१३७	
गाथा ५९		१४१—१४३
देवगति सम्बन्धी जबन्य अन्तरकाल	१४१	
गाथा ६०		१४३—१४५
देवगति सम्बन्धी उल्कुष्ट अन्तरकाल	१४४	
गाथा ६१		१४५—१५०
एक जीवापेक्षा गुणस्थानों का अन्तरकाल	१४६	
गाथा ६२, ६३		१५१—१५३
अनेक जीवापेक्षा गुणस्थानों का अन्तरकाल	१५१	
गाथा ६४		१५३—१५७
गुणस्थानों में भावप्रस्तुपणा	१५४	
जीवस्थानों में भावप्रस्तुपणा	१५६	
गाथा ६५		१५७—१५८
गर्भज मनुष्यों, मनुष्यनिधियों, लेजस्काय जीवों का अत्यबहुत्व	१५७	
गाथा ६६, ६७, ६८, ६९		१५८—१६७
देव और नारकों, खेतर, जलधर, घलचर आदि का अत्य- बहुत्व	१५९	

भाषा ७०	१६७—१६८
नपुंसक खोकर, घलचर, जलचर, चतुरिभिर्य, पर्वति पंचेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, शीवों का अल्पबहुत्तम	१६९
भाषा ७१	१६९—१७०
अपर्याप्ति पंचेन्द्रियादि का अल्पबहुत्तम	१७०
भाषा ७२	१७०—१७२
पर्याप्ति बादर वनस्पतिकायादि का अल्पबहुत्तम	१७१
भाषा ७३	१७२—१७३
अपर्याप्ति बादर वनस्पति आदि का अल्पबहुत्तम	१७३
भाषा ७४, ७५	१७३—१७४
पर्याप्ति सूक्ष्म तेजस्काय आदि का अल्पबहुत्तम	१७३
भाषा ७६, ७७	१७४—१७६
सामान्य पर्याप्ति बादरादि, सूक्ष्म अपर्याप्ति वनस्पति आदि का अल्पबहुत्तम	१७५
अल्पबहुत्तम	१७६—१७८
भाषा ७८	१७८
पर्याप्ति सूक्ष्मादि का अल्पबहुत्तम	१७८—१७९
भाषा ७९	१७९
सामान्य एकेन्द्रियादि का अल्पबहुत्तम	१८०
भाषा ८०, ८१	१८०—१८१
गुणस्थानापेक्षा अल्पबहुत्तम	१८०
भाषा ८२	१८१—१८४
जीवस्थानों के भेद और नाम	१८४
भाषा ८३	१८४—१८५
गुणस्थानों के नाम	१८४
भाषा ८४	१८५
बन्धक जीवों के गुणस्थान और अधिकार का उपर्युक्त	१८५
परिशिष्ट	१८६—२३२
बन्धक-प्रलयण अधिकार की मूलभाष्य	१८६

लोक की धनाकार समस्तुरल-समीकरणविधि	१६३
दिम्बरसाहित्य में निर्देशित स्थावर-प्रसवीरों की संख्या का प्रमाण	१६५
नारक एवं सतुविधि देव संख्या निरूपक गोमटहार-जीवकांडगत पाठ	१६६
दिशापेक्षा नारकों का अल्पबहुत्व	२००
प्रशापनासूत्रगत महादर्ढक का पाठ	२०२
उत्तरवैकिप्रशारीरी पंचेन्द्रिय तिर्यक संख्या परिवर्णण आपक प्रशापना सूत्रगत पाठ	२०६
मनुष्यों की उल्काष्ट संख्याविषयक अनुशोध हाइरसूर्य का पाठ	२०८
दिम्बरसाहित्यगत पुढ़ालपराकर्तनों की व्याख्या	२०९
प्रशापनासूत्रगत कायस्थिति संबन्धी पाठोंश	२१४
अनेक जीवपेक्षा अन्तरकाल संम्बन्धी प्रशापनासूत्र का आवश्यक पाठोंश	२२५
शुल्सकभव का प्रमाण	२२६
गाधा-अकाराद्यनुक्रमणिका	२३१

श्रीमदाचार्य चन्द्रषिमहत्तर-विरचित

## पंचसंग्रह

[मूल, शब्दार्थ तथा विवेचनयुक्त]

बंधक-प्ररूपणा अधिकार

२

## २ : बन्धक-प्ररूपणा अधिकार

**प्रथम अधिकार**—योगोवयोगभार्गणा अधिकार में जीवों का योग, उपयोग आदि की अपेक्षा विस्तार से वर्णन किया है। वहाँ जिन जीवों का वर्णन किया गया है, वे ही कर्म के बन्धक—बन्ध करने वाले हैं। अतः अब उन्हीं जीवों का सविस्तार विशेष वर्णन करते हैं—

चउदसविहा वि जीवा विवर्धगा तेसिमंतिमो भेऽओ ।

चोदसहा सब्दे वि हु किमाइसंताइपयनेया ॥१॥

**शाश्वार्थ**—**चउदसविहा**—चौदह प्रकार के, वि—ही, जीवा—जीव, विवर्धगा—बन्धक, तेति—उनमें, अतिमो—अतिम, भेऽओ—भेद, चोदसहा—चौदह प्रकार का, सब्दे—मन, वि—भी, हु—रिक्तव्य में, किमाइ—किम्, क्या आदि, संताइ—सत् आदि, पव—पद, नेय—जानने योग्य हैं।

**गायार्थ**—चौदह प्रकार के जीव कर्म के बन्धक हैं, उनमें से अतिम भेद चौदह प्रकार का है। ये सभी जीवभेद किम् आदि, सत् आदि पदों द्वारा जानने योग्य हैं।

**विशेषार्थ**—गाया में जो जीव कर्म के बन्ध हैं, उनके वर्णन की प्रतिशा की है।

जिनके स्वरूप और भेद पहले बताये जा चुके हैं ऐसे अपर्याप्त, पर्याप्ति, सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय आदि चौदह प्रकार के जीव कर्मों—ज्ञानावरण आदि आठों प्रकार के कर्मों के बन्धक हैं—‘चउदसविहा वि जीव विवर्धगा’। उन चौदह प्रकार के जीवों में से भी अन्तिम भेद—संज्ञों पञ्चेन्द्रिय पर्याप्ति के भेद—मिथ्याहृष्टि आदि गुणस्थानों के भेद से चौदह प्रकार का है (तेसिमंतिमो भेऽओ चोदसहा)। तथा ये पूर्वोक्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि चौदह प्रकार के जीव एवं गुणस्थानों के भेद से वर्गीकृत मिथ्याहृष्टि आदि जीव किम् आदि तथा सत्पद-

प्रेषणा आदि द्वारों<sup>१</sup> के द्वारा यथावत् रूप से समझने योग्य है—  
(किमाइ संलाइ पयनेया)।

गाथागत 'विबन्धगा' और 'हु' यह दो पद विशेष अर्थ के चौतक हैं। जिनका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

**विबन्धगा**—अथत् चौदह प्रकार के जीवभेदों में से भी जो अंतिम भेद है—‘तेसिमंतिमो भेदो’—वह पर्याप्त संज्ञी पञ्चेन्द्रिय भेद विशेष रूप से कर्मबन्धक है।

यथोपि जब तक जीव संसार में है, तब तक कर्मबन्ध होगा, लेकिन योग और कषयों की सामर्थ्य के अनुसार ही संसारी जीव बन्ध करते हैं। संसारी जीवों में संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तिक जीवों में ही उत्कृष्ट योग और कषय-सामर्थ्य पाइ जा सकती है, अन्य जीवों में उतनी नहीं; इसी बात का संकेत करने के लिये अवधिकार आचार्य ने गाथा में ‘विबन्धगा’ पद दिया है तथा बहुबचन प्रयोग करने का कारण यह है कि जीव अनेक हैं और उन अनेकों में जैसे सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि जीव अनेक हैं, उसी प्रकार संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तिक जीव भी अनेक हैं। जो अपनी योग्यता—सामर्थ्य की विशेषता के कारण ज्ञानावरण आदि आठों कर्मों का विशेष बन्ध करते हैं।

**हु**—यह अवधिकारणात्मक पद है। जिसका आशय यह है कि अंतिम जीवभेद—संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्तिक जीवभेद में ही चौदह गुणस्थान पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त शेष जीवभेदों में एक, दो, तीन गुणस्थान संभव हैं।<sup>२</sup> जैसे कि अनादिकाल से सभी संसारी जीवों के मिथ्याहृष्टि होने से मिथ्याहृष्टि गुणस्थान है। उनमें से कोई करण-अपर्याप्तिक दो गुणस्थान बाले होते हैं। क्योंकि सूक्ष्म एकेन्द्रिय के

१ किसी भी कस्तु को समझने के प्रकार को द्वार कहते हैं। प्राचीन आचार्यों ने इन प्रकारों के लिये हाँ शब्द का प्रयोग किया है।

२ हृष्टवधारणोऽकिमव्यधारयति ? अंतिम त्रिं चतुर्दश्या भवन्ति, अन्ये त्वेकविविभुणो एते । पञ्चसंघ्रह, स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० ४३

सिवाय जीव करण-अपर्याप्तिकों में सास्वादन गुणस्थान भी पाया जाता है। सज्जी करण-अपर्याप्तिकों में तीन गुणस्थान पाये जा सकते हैं। क्योंकि करण-अपर्याप्त दशा में उसको अविरतसम्यग्हटित गुणस्थान भी सम्भव है।

इस प्रकार सामान्य से जीवों के कर्मदत्त्व का विचार करने के बाद अब वर्णन करने की प्रतिज्ञा के अनुसार किम् आदि एवं सल् आदि पदों द्वारा जीव की प्ररूपणा करते हैं। इसमें से अल्पवक्तव्यता पहले के कारण किमादि पदों द्वारा जीव का विचार करते हैं।

### किमादि पदों द्वारा निरूपण

कि जीवा ? उवसमाइएहि भावेहि संजुयं दद्वं ।

प्रसर लक्ष्यस्त एहि किमिदि ? न देवाद् कथा उ ॥२॥

करथ ? सरोरे लोए व हृति केवचिर ? सञ्चकालं तु ।

कहु भावजुया जीवा ? दुष्टिगच्छउपचमीसेहि ॥३॥

शब्दार्थ—कि—क्या, जीव—जीव, उवसमाइएहि—जीवशमिकादि, भावेहि—भावों से, संजुयं—संयुक्त, दद्वं—द्रव्य, करथ—किसका, सञ्चकाल—स्वरूप का, एहि—प्रभु-स्वामी, किमिदि—किमने, न—नहीं, देवाद्—किसी के द्वारा भी, कथा—क्षमा-बनाया, उ—विश्वव्य ही।

करथ—कहाँ, सरोरे शरीर में, लोए—लोक में, व—अथवा, हृति—होते हैं, केवचिर—कितने काल तक, सञ्चकाल—नवंकाल, तु—ही, कहु—कितने, भावजुया—भावयुक्त, जीवा—जीव, दुष्टिगच्छउपचमीसेहि—दो, तीन, चार और पाँच भावों से युक्त जीव होते हैं।

गाथार्थ—जीव क्या है ? अैपश्मिकादि भावों से संयुक्त द्रव्य है। किसका प्रभु—स्वामी है ? अपने स्वरूप का स्वामी है। किसने बनाया है ? किसी ने नहीं बनाया है।

जीव कहाँ रहता है ? शरीर ब्रह्मवा लोक में रहता है ? किसने काल तक रहने वाला है ? सञ्चकाल—सदैव रहने वाला है। किसने भावों से युक्त जीव होते हैं ? दो, तीन, चार और पाँच भावों से युक्त जीव होते हैं।

**विशेषार्थ**—यथकार आचार्य ने इस ही गाथाओं में जीव के स्वरूप को समझाया है और सरलता से समझने के लिये प्रश्नोत्तर शैली का अनुसरण किया है। समग्र रूप से जीव का स्वरूप समझने के प्रसंग में जो प्रश्न ही सहते हैं, वे इस प्रकार हैं—

१. जीव क्या है अर्थात् जीव का स्वरूप क्या है ? २. जीव किसका प्रभु-स्वामी है ? ३. जीव को किसने बनाया है ? ४. जीव कहाँ रहते हैं ? ५. जीव कितने काल तक जीव के रूप में रहेंगे ? ६. जीव उपशमादि कितने भावों से युक्त होते हैं ?

उक्त छह प्रश्नों का विवेचन इस प्रकार है—

१. जीव क्या है ?—स्वरूप-बोध के अनन्तर ही वस्तु का विशेष विचार किया जाना शक्य हीमे से जीव का स्वरूप समझने के लिये जिज्ञासु ने पहला प्रश्न पूछा है 'कि जीवा ?' जीव क्या है—जीव का स्वरूप क्या है ? प्रत्युत्तर में आचार्य बतलाते हैं—

'उपशमादएहि भावेहि संजुयं दद्वा'—अर्थात् औपशमिक, औदिक, क्षायिक, क्षायीपशमिक और पारिणामिक भावों से युक्त जो द्रव्य है, वह जीव है। इसका आशय यह है कि उत्पाद-व्यय-ध्रीयरूप द्रव्य का लक्षण पाये जाने से जीव द्रव्य तो है ही व्योकि प्रत्येक द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रीयात्मक है, यही द्रव्य का लक्षण है। लेकिन साथ ही जीव की यह विशेषता है कि वह औपशमिक, औदिक, क्षायिक, क्षायीपशमिक और पारिणामिक भावों से युक्त द्रव्य है।<sup>१</sup>

१. उत्पाद-व्यय-ध्रीयात्मक वस्तु। — विशेषावश्यक भाष्य, पृ. ८१२

२. जीव का स्वरूप उपयोगात्मक है। लेकिन यही कर्मज्ञ अवस्थाओं और मूलस्वभाव को बतलाने की खुल्लता से औपशमिक आदि पांच भावों को जीव का स्वरूप बतलाया है—

'औपशमिकादिभावपर्यायो जीवः पर्यावेशाद् । पारिणामिकभावसाधनो मिश्रयतः ।'

—तत्त्वार्थ राजशास्त्रिक १/७/३, ८

अन्तसाधारणा भावाः पञ्चौपशमिकादयः ।

स्वतस्मै यस्य तत्त्वस्य जीवः स व्यपदिश्यते ॥

—तत्त्वार्थसार २/२

जीव की स्वरूप-व्याख्या में भावों के क्रमविन्यास पर ज्ञानाकार वीरेंका है कि—

‘ज्ञाना—आपका यह क्रमविन्यास अयुक्त है। क्योंकि औदयिक भाव नियोग से लेकर सभी संसारी जीवों के होता है और औपशमिक तो कितनों को ही होता है। अतः औदयिक भाव को छोड़कर प्रथम औपशमिक भाव को ग्रहण करने का कारण है ?

उत्तर—वस्तु का ऐसा स्वरूप बतलाना चाहिए जो असाधारण हो, जिससे उसकी अत्य से व्यावृत्ति की जा सके, उसकी पृथक्ता समझी जा सके। इसी हेतु से जीव का स्वरूप बतलाने के आरम्भ में औदयिक को ग्रहण न करके औपशमिक भाव का विन्यास किया है। जिसका आशय यह है कि औदयिक और पारिणामिक ये दो भाव तो अजीव द्रव्य में भी पाये जाते हैं, इसीलिये उन भावों को प्रारम्भ में ग्रहण नहीं किया है। आधिक भाव औपशमिक भावपूर्वक ही होता है, क्योंकि कोई भी जीव उपशम भाव को प्राप्त किये बिना आधिक भाव को प्राप्त करता ही नहीं है। इसका कारण यह है कि अनादि मिथराट्टिंट जीव भी सम्यक्त्व की प्राप्ति करता है तो उपशम सम्यक्त्व को ही प्राप्त करता है, इसीलिये उसे (आधिक को) भी प्रारम्भ में नहीं रखा है। क्षयोपशमिक भाव औपशमिक भाव से अत्यन्त भिन्न नहीं है, इस कारण प्रारम्भ में औपशमिक भाव ग्रहण किया है।

इस प्रकार से जीव का स्वरूप बतलाने के पश्चात् अब दूसरे प्रश्न पर चिनार करते हैं—

२. जीव किसका प्रभु—स्वामी है ? तो इसका उत्तर यह है कि ‘सर्वस्स पहूँ’—जीव अपने स्वरूप का ही स्वामी है। यह कथन निश्चयनय की अपेक्षा से समझना चाहिये। क्योंकि संसार में जो स्वामी-सेवकभाव रिखता है, वह कर्मरूप उपाधिजन्य होने के कारण औपाधिक है, बास्तविक नहीं। किन्तु कर्मों से मुक्त हुए जीवों—आत्माओं में स्वामी-सेवकभाव नहीं है। कोई किसी का स्वामी नहीं और न कोई किसी का सेवक है। सभी मुक्त जीव अपने स्वरूप के

स्वामी हैं, सभी के मुण शमान हैं। उनमें किसी प्रकार का अन्तर नहीं है। इसीलिये तथास्वभाव से अपने स्वरूप के ही स्वर्य स्वामी हैं।

३. जीव को किसने बनाया है?—यह तीसरा प्रश्न है। जिसका उत्तर है—‘न केण ह कया’—जीव को किसी ने नहीं बनाया है, किन्तु आकाश की तरह अकृत्रिम है और अपने स्वाभाविक स्वरूप में अवस्थित है।

यह नियम है कि उत्पन्न हुई वस्तु का अवश्य नाश होता है। इसलिये यदि जीव को उत्पन्न हुआ माना जाये तो उसका भी नाश होना चाहिये। परन्तु उसका किसी भी समय नाश नहीं होने से वह अकृत्रिम है।<sup>१</sup>

४. जीव कहाँ रहते हैं?—इस खींचे प्रश्न का उत्तर यह है कि ‘सरीरे लोग दुर्ति’—जीव अपने-अपने शरीर में अथवा लोक में रहते हैं। इस उत्तर में सामान्य शीर दिशेतात्त्विक लीब के उवस्थान का विचार किया गया है। उनमें से सामान्य की अपेक्षा विचार करते हुए बताया कि जीव लोक में रहते हैं, अलोक में नहीं; चाहे वे बन्धक हों या अवन्धक हों। इसका कारण यह है कि तथास्वभाव से धर्मस्थित-काय, धर्मस्थितकाय, जीव और पुद्गलों का अलोक में अभाव है। लेकिन विशेषापेक्षा विचार करने पर प्रत्येक जीव यथायोग्य प्राप्त अपने-अपने औदारिक आदि शरीर में रहता है, अपने शरीर से बाहर नहीं रहता है। क्योंकि शरीर के परमाणुओं के साथ आत्मप्रदेशों का नीरस्तीरकत् अन्योन्यागमरूप परस्पर एकाकार सम्बन्ध है। इसका कारण यह है कि जीव और पुद्गल अन्योन्यागम के कारण परस्पर ऐसे एकाकार रूप से रहे हुए हैं कि उनमें यह जीव है और यह शरीर-पुद्गल हैं, ऐसा विभाग नहीं हो सकता है। जैसे कि पानी और दूध

<sup>१</sup> एतद्विविधक सविस्तृत विवार धर्मसंग्रहणों की दीका में किया गया है। विस्तारभय से वहाँ संक्षेप में संकेतमात्र किया है।

ऐसे एकाकार रूप में रहे हुए हैं कि उनमें यह पानी है और यह दूध है, इस प्रकार का विभाग नहीं हो पाता है ।<sup>१</sup>

प्र. जीव किसने काल्पर्यन्त जीवरूप में रहेगा, उसका नाश कब होगा?—यह पांचवाँ प्रश्न है। दार्शन ज्ञान है 'दत्तकालान्तर्तु' । अर्थात् जीव सर्वदा जीव रूप में रहेगा, किसी भी समय उसका नाश नहीं होता।

जोंका—तीसरे प्रश्न के उत्तर में कहा गया है कि जीव को किसी ने नहीं बनाया है, किन्तु आकाश की तरह अकृतिम है और अकृतिम बस्तु का कभी भी नाश नहीं होता है। अब इसनी स्पष्ट बात है तो पूर्ण यहाँ 'उसका नाश नहीं होता है'—कहुकर तीसरे प्रश्न के उत्तर की पुनरावृत्ति करने का क्या प्रयोजन है?

समाधाम ...दोनों का पृथक्-पृथक् निर्देश विशेष उद्देश्य को लेकर किया गया है। तीसरे प्रश्न के उत्तर द्वारा जीव अनादिकाल से है, यह बतलाया है; जबकि वहाँ यह स्पष्ट किया है कि अनन्तकाल-पर्यन्त भी जीव जीवरूप में रहने वाला है। तात्पर्य यह है कि जीव को किसी ने बनाया नहीं है, इसलिये वह अनादिकाल से है और अनन्तकाल तक जीवरूप में ही रहने वाला है। यानी जीव अनादि-अनन्त है।

अब कदाचित् यह कहो कि मुक्त जीव अनन्तकाल तक जीवरूप यानी स्वरूप में कैसे रहते हैं? तो इसके लिये समझना चाहिये कि मुक्त अवस्था को प्राप्त जीव सदैव के लिये जात्म-दर्शन आदि अनन्त बातम्-गुणात्मक अपने स्वरूप में ही रहेंगे। क्योंकि जात्म-दर्शन आदि गुण जीव के स्वरूप हैं। वे गुण कभी भी उसके सिवाय अन्य किसी द्रव्य में नहीं रहते हैं और न पाये जा सकते हैं।

१ अशोकमण्डुगयाई इसमें ज लं च ति विभयणमजुतं । जह स्वीरपाणीवाई ति ।

मुक्त जीव के ज्ञान-दर्शनादि रूप अपने स्वरूप में अनन्तकाल तक रहने के सिद्धान्त हारा उन दार्शनिकों का निरास हो जाता है, जिनके पत से आत्मा का मोक्ष हो जाने के बाद आत्मा जैसी वस्तु रहती नहीं है और जिनकी मोक्षविद्यक मान्यता यह है कि—

‘जैसे ब्रह्मने पर दीपक, पृथ्वी में नीचे नहीं जाता, आकाश में ऊँचा नहीं जाता और किसी दिशा या विदिशा में भी नहीं जाता है, परन्तु वहीं रहते हुए स्नेह—तेज धय होने से ब्रह्म जाता है। उसी प्रकार स्नेह—रागद्रष्ट वा का क्षय होने से निर्बुद्धि—मोक्ष को प्राप्त आत्मा भी पृथ्वी में नीचे नहीं जाती, आकाश में ऊपर नहीं जाती और न किसी दिशा या विदिशा में ही जाती है, किन्तु वहीं रहते हुए दीपक की तरह ब्रह्म जाती है अर्थात् उसका नाश हो जाता है।’<sup>१</sup>

तथा—

‘अरिहंत के मरणोन्मुख चित्त की प्रतिसंधि—अनुसंधान नहीं होता है, किन्तु दोपक की तरह निर्वाण—नाश होता है, उसी प्रकार चित्त—आत्मा का मोक्ष होता है।’<sup>२</sup>

बयोंकि जो वस्तु सत् है, उसका कभी नाश नहीं होता है। परंतु—अवस्था बदलती है, परन्तु द्रव्य तो सदैव विद्यमान रहती है।

६. उपशमादि कितने भावों से युक्त जीव होते हैं?—इस प्रश्न का उत्तर यह है कि कितने ही जीव दो भाव, कितने ही तीन भाव, कितने ही चार भाव और कितने ही पाच भाव युक्त होते हैं—‘दुगतिं-चउपंचमीसेहि’। इसका स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है।

१ दीपो वथा निर्बुद्धिमध्युयेतो नैवावनि गच्छति नात्वरिक्षम् ।

दिशं प्र काञ्चित्तिदिशं न काञ्चित्तस्मेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥

जीवस्तथा निर्बुद्धिमध्युयेतो नैवावनि गच्छति नात्वरिक्षम् ।

दिशं न काञ्चित्तिदिशं न काञ्चित्तस्मेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम् ॥

—सौदरामद १६/२५,२६

२ यह दीदूदर्शन की मान्यता है।

औपशमि का आदि भावों का स्वरूप और उनके द्विकादि भंग

प्रश्न—औपशमिक आदि कितने भाव हैं? उनका क्या स्वरूप है और द्विक, त्रिकादि योग करने की रीति क्या है?

उत्तर—औपशमिकादि छह भाव हैं—(१) बौद्धिक, (२) बौपशमिक, (३) क्षायिक, (४) क्षायोपशमिक, (५) पारिणामिक और (६) सांख्यिकातिक।<sup>१</sup> जिनके लक्षण और भेद क्रमशः इस प्रकार हैं—

(१) बौद्धिक<sup>२</sup> भाव के दो भेद हैं—१. उदय और २. उदय-मिष्टिश्च।<sup>३</sup> अपनी-अपनी भौतिकी के अनुसार उदय देने के सम्मुख हुए ज्ञानावरणादि आठों कर्मों का अपने-अपने स्वरूप के अनुसार फलानुभव उदय है<sup>४</sup> और उदय है कारण जिसका उसे बौद्धिक कहते हैं।

१ (क) गुण भाव औपशमिकादि पात्र ही होते हैं।

शुद्धभावाः पञ्चवैते, तेषामेव संशिकातान्मिश्रः पष्ठो ब्रेह्मी भवति ।

.....पञ्चसंयह—स्वोपज्ञवृत्ति, सू. ४३

(ख) बौपशमिकक्षायिकी भावी मिथुनच जीवस्य स्वतस्य बौद्धिकयादि-  
गामिकी च । .....तस्वार्थसूक्त २/१

(ग) सांख्यिकातिक नाम का स्वतन्त्र भाव नहीं है। किन्तु संयोग भंग की  
अपेक्षा उसका अहं जिया जाता है। .....त्रिनेन्द्रि सिद्धान्त कोष, ४/३१३

२ उदय शब्द से 'इक' प्रत्यय लगाने से बौद्धिक शब्द बनता है।

३ उदय दुष्प्रिय प्रभाव, तं यहा—उदय उदयनिष्ठन्ते य ।

.....अनुयोगद्वारसूक्त

४ (क) सत्रोदयोऽव्याप्तिः कर्मप्रकृतीनामुदयः शान्तावस्था परित्यागेनोदीरणावलिकामतिकम्य उदयावलिकायामात्मीयरूपेण विपाक इत्यर्थः ।

.....स्थानगिवृत्ति, स्था. ६

(ख) उदय अदुर्घात कम्पपराडीणमुदय से तं उदय ।

.....अनुयोगद्वारसूक्त

कर्मों के उदय द्वारा उत्पन्न हुआ जीव का स्वभाव उदयनिष्पत्ति कहलाता है।

उदयनिष्पत्ति के दो भेद हैं—(१) जीवविषयक (२) अजीवविषयक।<sup>१</sup> उनमें से नारकगति आदि कर्म के उदय से उत्पन्न हुए नारकत्वादि पथियों की ओरविषयक औदित्यिक भाव कहलते हैं। क्योंकि नारकत्वादि जीव के भावों—पथियों से नारकगति आदि कर्मों के उदय से सत्ता प्राप्त की है, किन्तु वे स्वाभाविक नहीं हैं।

जीवोदयनिष्पत्ति औदित्यिक भाव के अनेक भेद हैं, यथा—नारकत्व, तिर्यचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व, पृथ्वीकायत्व, अपकायत्व, तैजस्कायत्व, आशुकायत्व, वनस्पतिकायत्व, ऋसकायत्व, क्रोधकषायी, मानकषायी, मायाकषायी, लोभकषायी, स्त्रीवेदी, पुरुषवेदी, नपुंसकवेदी, कृष्णलेश्या, नीललेश्या, काषोत्तलेश्या, तेजोलेश्या, पदमलेश्या, शुक्ललेश्या, मिथ्याहृष्टित्व, अविरतित्व, अज्ञानित्व, आहारकत्व, छद्मस्थभाव, सयोगित्व और संसारावस्था आदि। ये सभी भाव जीव के कर्मों के उदय से उत्पन्न होने के कारण जीवोदयनिष्पत्ति कहलाते हैं।

अजीवोदयनिष्पत्ति यानि जीव द्वारा ग्रहण किये गये औदारिक आदि शरीर में कर्म के उदय से उत्पन्न हुए बण्डिदि परिणाम अजीवोदयनिष्पत्ति औदित्यिक भाव हैं। जिसका स्पष्ट आशय यह है कि औदारिक आदि शरीरयोरप्य पुदगलों का उस-उस शरीररूप में परिणाम तथा शरीर में वर्ण, गंध, रस और स्पर्शरूप परिणाम, यह सब कर्म के उदय बिना नहीं होता है, जिससे वे अजीवोदयनिष्पत्ति औदित्यिक भाव कहलाते हैं।

(२) औपशमिक भाव—अौपशमिक भाव के दो भेद हैं—१. उपशम

१ से कि तर्तु उदयनिष्पत्ति?

तर्तु दुष्टिहृ पञ्चते तं जहा—जीवोदयनिष्पत्ति अजीवोदयनिष्पत्ति य।

और २. उपशमनिष्ठना । उनमें से राख से आच्छादित अग्नि की तरह कर्म की सर्वथा अभाव वावस्था, अर्थात् प्रदेश से भी जिसके उदय का अभाव हो, उसे उपशमन कहते हैं ३ कर्म की ऐसी इकाति में स्थानित कर देना कि वह रस से अथवा प्रदेश से भी अपना कियाक वेदन न करा सके, वह उपशम है । इस प्रकार के उपशम को सर्वोपिशम कहते हैं । जो मोहनीयकर्म का ही होता है,<sup>१</sup> किन्तु दूसरे किसी कर्म का नहीं होता है ।

कर्म के सर्वथा उपशम हारा उत्पन्न जीवस्वभाव को उपशमनिष्ठना कहते हैं । जो क्रोधादि कषायों के उदय का सर्वथा अभाव होने से उसके फलरूप में उत्पन्न हुआ परम शांत अवस्था रूप जीव का परिणाम-विक्रोष्ट है ।

यह औपशमिक भाव अनेक प्रकार का है, यथा—उपशांत वेद, उपशांत क्रोध, उपशांत मान, उपशांत माया, उपशांत लोभ, उपशांत दर्शनमोहनीय, उपशांत चारित्रमोहनीय आदि ।

(३) क्षयिक भाव—इसके दो भेद हैं—क्षय और क्षयनिष्ठना । कर्म के सर्वथा अभाव को क्षय कहते हैं और यही क्षय क्षयिक है । कर्मों के सर्वथा अभाव होने के फलरूप में उत्पन्न हुआ जीव का परिणाम-विक्रोष्ट क्षयनिष्ठना कहलाता है, यथा—केवलज्ञानित्व, केवलदर्शनित्व, क्षीणमतिज्ञानात्मत्व, क्षीणशुत्रज्ञानात्मत्व, क्षीणअवधिज्ञानात्मत्व, क्षीणमनापर्ययज्ञानात्मत्व यावत् क्षीणबीयस्तिरायत्व और मुक्तत्व । ये सभी भाव कर्मविरण का सर्वथा नाश होने के फलरूप में उत्पन्न हुए हैं, जिससे ये क्षयनिष्ठना कहलाते हैं ।

(४) क्षयोपशमनिष्ठना भाव—यह दो प्रकार का है—क्षयोपशम और क्षयोपशमनिष्ठना । उदयप्राप्त कर्मशा के क्षय और अनुदयप्राप्त

<sup>१</sup> संबुद्धमामणा मोहसेव ।

—कर्मपयडी, उपशमना प्रकरण

कर्माश के विपाकाशदी क्षयशम को अचलोपशम<sup>१</sup> कहते हैं। यह क्षलो-पशम ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तर्शय इन चार घाति कर्मों का ही होता है, अधाति कर्मों का नहीं होता है।<sup>२</sup> क्षयोपशम ही क्षायोपशमिक कहलाता है।

घाति कर्मों के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ भतिजानादि लब्धिरूप

१ उदयप्राप्त कर्मों के क्षय और उदय में नहीं आये द्वूषों के उपशम को क्षयोपशम कहते हैं। यहीं उपशम शब्द के ही अर्थ करना चाहिये—

२ उपशम यानी उदयप्राप्त कर्म का क्षय और सत्तागत कर्म को परिणामानुसार हीन शक्ति वाला करके ऐसी स्थिति में स्थित करना कि स्वरूप से फल न दे। यह अर्थ मोहनीय कर्म में घटित होता है। स्थित्यात्व और अनन्तानुवृद्धि आदि बारह कषायों का क्षयोपशम होता है, तब उनके उदय-प्राप्त अंशों का क्षय करता है और सत्तागत अंश को परिणामानुसार हीन शक्ति वाला करके ऐसी स्थिति में रखता है कि स्वरूपतः फल न दे। तभी सम्भवतः देशविरति और सर्वविरति चारित्ररूप गुण उत्पन्न होते हैं।

उपशम का द्वूषरा अर्थ—उदयप्राप्त अंश का क्षय और उदय-प्राप्त अंश को परिणामानुसार हीनशक्ति वाला करना। यह अर्थ शेष तीन घाति कर्मों में घटित होता है। उनके उदयप्राप्त अंश का क्षय और उदय-प्राप्त अंश को परिणामानुसार हीनशक्ति वाला करता है। स्वरूपतः फल न दे सके ऐसी स्थिति में स्थित नहीं किये होने से उनका रसोक्षय भी होता है। किन्तु शक्तिहीन किये गये होने से गुण के विघ्नक नहीं होते हैं। जितने प्रमाण में उनकी शक्ति कम हो गई है, तत्त्वमुख्य भतिजान आदि गुण प्रगट होते हैं। इसीलिये इन तीन कर्मों का उदयानुविड्ध क्षयोपशम कहा जाता है।

२ अधाति कर्म किसी गुण को आचलादित नहीं करते, जिससे उनका क्षयोपशम नहीं होता। वे तो अधिक रस और अधिक स्थितिवाले हों तभी अपना कार्य कर सकते हैं। इसीलिये अधाति कर्मों का क्षयोपशम नहीं हो सकता है।

आत्मा का जो परिणामविशेष उसे क्षयोपशमनिष्पत्ति कहते हैं। यह सायोपशमनिष्पत्ति अनेक प्रकार का है, मध्य—सायोपशमिक आभिनिबोधिक ज्ञानलिंग, श्रुतज्ञानलिंग, अवधिज्ञानलिंग, मन्त्रवीर्यज्ञानलिंग, क्षायोपशमिक मतिज्ञानलिंग, श्रुतअज्ञानलिंग, विभगज्ञानलिंग, सम्यग्दर्शनलिंग, क्षायोपशमिक सम्यग्मध्यादर्शस्तत्त्वलिंग<sup>१</sup>, क्षायोपशमिक सामायिकलिंग, क्षायोपशमिक द्वेदोपस्थापनीयलिंग, क्षायोपशमिक परिहारविष्टुत्तिलिंग, शायोपशमिक सूक्ष्मसंपरायलिंग, क्षायोपशमिक वैशविरतिलिंग, क्षायोपशमिक दानलिंग, साभलिंग, शोणलिंग, उपभोगलिंग, वीर्यलिंग, पंडितवीर्यलिंग, बालवीर्यलिंग, बालपंडितवीर्यलिंग<sup>२</sup>, श्रीत्रेन्द्रियलिंग, चक्षुरन्द्रियलिंग, श्वाणेन्द्रियलिंग, रसनेन्द्रियलिंग, स्पर्शनेन्द्रियलिंग<sup>३</sup> इत्यादि। ये सभी भाव घाति कर्म के क्षयोपशम से निष्पत्ति होने के कारण क्षयोपशमनिष्पत्ति कहलाते हैं।

(५) पारिणामिक<sup>४</sup> भाव—परिणामित होना—अवस्थित वस्तु का पूर्व अवस्था के त्याग करने के द्वारा उत्तर अवस्था को कथंचित् प्राप्त होना अर्थात् अपने मूल स्वभाव को छोड़े बिना पूर्व अवस्था के त्याग-

१ मिथ्यात्म या उदय नहीं होने से मही सम्यग्मध्यादर्शस्तत्त्वलिंग बोगिना है।

२ मिथ्यात्मी जीव के वीर्यव्यापार को बालवीर्य, सम्यकात्मी और देशविरति के वीर्यव्यापार को बालपंडितवीर्य और सर्वविष्टि के वीर्यव्यापार को पंडितवीर्य-लिंग कहा जाता है। इन सभी लक्षितयों का मामान्व से वीर्यलिंग में सम्बोधण हो जाता है, किन्तु स्पष्टता के लिये अल्प-अल्प उत्तरेष्व किया है।

३ इन श्रीत्रेन्द्रियलिंग आदि पांच ऐन्द्रियलिंगयों का मतिज्ञानलिंग में सम्बोध हो जाता है। किन्तु स्पष्टता के लिये यहाँ पृथक्-पृथक् लक्षण है।

४ पातिज्ञानिक भाव का कारण दृष्टि का स्वरूपलाभ भाव है। इसमें कर्म के उदय, उपशम, क्षय और क्षयोपशम की अवेक्षा नहीं होती है।

पूर्वक उत्तर अवस्था को प्राप्त करना परिणाम कहलाता है और परिणाम को ही पारिणामिक भाव कहते हैं।

पारिणामिक भाव के दो भेद हैं—सादि और अनादि। जी, गुड़, चावल, आसव और घटादि पदार्थों की नई-पुरानी आदि अवस्थायें तथा वर्षभूषणवर्त, अद्वा, चिमान, कूज और चलप्रसा आदि पृथिवियों की पुदगलों के मिलने-विखरने के द्वारा हीने वाली अवस्थायें तथा गंधर्वनगर, उल्काधात, धूमस, दिरदाह, विद्युत, चन्द्रपरिवेष, सूर्यपरिवेष, चन्द्र-सूर्यग्रहण, इन्द्रधनुष इत्यादि अनेक अवस्थायें सादि पारिणामिक भाव हैं। क्योंकि उस-उस प्रकार के परिणाम अमुक-अमुक समय होते हैं और उनका नाश होता है। अथवा उनमें पुदगलों के मिलने-विखरने से हीनाधिक्य—फेरफार हुआ करते हैं।

लोकस्थिति, अलोकस्थिति, अव्याप्ति, अभ्याप्ति, जीवत्व, धर्माद्वित-कायत्व इत्यादि रूप जो भाव हैं, वे अनादि पारिणामिक भाव हैं। क्योंकि उनके स्वरूप में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है। सदैव अपने-अपने स्वरूप में ही रहते हैं।

ये औपशमिक आदि पूर्वोक्त पांच मूल भाव हैं। इनके संयोग से उनमें वाले छठे भाव का नाम सान्निपातिक है।<sup>१</sup> यह स्वतन्त्र भाव नहीं है, किन्तु संयोग भूमि की अपेक्षा इसका ग्रहण किया जाता है।

**सान्निपातिक भाव**—अनेक भावों के मिलने से निष्पत्त भाव को सान्निपातिक भाव कहते हैं। तात्पर्य यह है कि औद्यिक आदि भावों

१ यह विचार अनुयोदितारम्भ में, तत्त्वार्थशूल अ. र के १ से ७ तक के सूच में, सूत्रकृतांशभिर्युक्ति की भाषा १०७ तथा उसकी टीका में भी किया गया है तथा भौम्यसार फर्म्मकाण्ड में इस विषय का 'भावचूलिका' नामक एक स्वतन्त्र प्रकरण है। भावों के भेद-प्रभेद के लिये ८१२ से ८१६ तक की गाथायें द्रष्टव्य हैं और आगे की गाथाओं में कई तरह के भूमि जाल बनताये हैं। इन सबके लिये भावचूलिका प्रकरण भाषा ८१२ से ८१५ तक देखना चाहिये।

के दो आदि के संयोग से उत्पन्न हुई अवस्थाविशेष को साम्नि-पासिक कहते हैं ।<sup>१</sup>

पांच भावों के २६ भंग—किसी भी जीव में एक भाव नहीं होता है, किन्तु दो, तीन, चार या पांच भाव होते हैं । इन पांचों भावों के सम्बन्ध से द्विकादि के संयोग में छब्बीस भंग होते हैं । जो इस प्रकार जानकारी चाहिये कि दो के संयोग के दस, तीन के संयोग के दस, चार के संयोग के पांच और पांच के संयोग का एक ।<sup>२</sup>

दो आदि के संयोग से निष्पत्ति भंग इस प्रकार है—

दो के संयोग से निष्पत्ति दस भंग—१. औदयिक-औपशमिक, २. औदयिक-क्षायिक, ३. औदयिक-क्षायोपशमिक, ४. औदयिक-पारिभाषिक, ५. औपशमिक-क्षायिक, ६. औपशमिक-क्षायोपशमिक, ७. औपशमिक-पारिणामिक, ८. क्षायिक-क्षायोपशमिक, ९. क्षायिक-पारिणामिक, १०. क्षायोपशमिक-पारिणामिक ।

तीन के संयोग से बनने वाले दस भंग—१. औदयिक-क्षायोपशमिक-क्षायिक, २. औदयिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक, ३. औदयिक-

१ जब विवक्षित पदार्थ के अनेक भेद होते हैं और उन भेदों में कभी किसी एक का, कभी दो का यावत् कभी प्रत्येक भेद का विचार करना हो तब उस पदार्थ के एक-एक भेद, दो-दो भेद, तीन-तीन भेद की अवेक्षा, इस प्रकार उन पदार्थ के जितने भेद होते हैं, वहीं तक उनके जो भंग कराये जाते हैं वे भंग अनुक्रम से एकमयोगी, द्विमयोगी, त्रिमयोगी आदि नाम से जाने जाते हैं ।

२ दिग्म्बर साहित्य में भी इसी प्रकार से साप्रिषात्तिक भाव द्विमयोगी, तीन, चार तथा पांच संयोगी भव से दस, दस, पांच तथा एक, इस प्रकार छब्बीस बतलाये हैं । लेकिन विस्तार में इकलालीस भंगों का भी जिदेख किया है । इन इकलालीस भंगों में द्विक्षमयोगी भंग दस थी चत्ताय एच्चीस बतलाये हैं । अब भंगों की संख्या में अन्तर नहीं है ।

—देखिये, जैनेन्द्र सिद्धान्त कोण ४/३१३ ।

औपशमिक-पारिणामिक, ४. औद्यिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक, ५. औद्यिक-क्षायिक-पारिणामिक, ६. औद्यिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक, ७. औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक, ८. औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक, ९. औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक, १०. क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक ।

आर के संयोग से निष्पत्ति जांच भर्ग—१. औद्यिक-औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक, २. औद्यिक-औपशमिक-क्षायिक-पारिणामिक, ३. औद्यिक-औपशमिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक, ४. औद्यिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक, ५. औपशमिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक ।

पांचों भावों के संयोग से निष्पत्ति एक भर्ग—औपशमिक-औद्यिक-क्षायिक-क्षायोपशमिक-पारिणामिक ।

इस प्रकार औद्यिक आदि पांच भावों के छब्बीस भर्ग होते हैं । इन भर्गों में से छिकसंयोगी एक, श्रिकसंयोगी दो, चतुर्संयोगी दो और पंचसंयोगी एक, इस तरह छह भर्ग ही घटित होते हैं, थेष भर्ग घटित नहीं होते हैं । किन्तु भर्गरचना की अपेक्षा से थेष भर्ग बतलाये हैं और वे भी इसलिये बताये हैं कि घटित होने वाले भर्गों के ज्ञान के लिये यह रचना उपयोगी है ।

अब उक्त भर्गों में से कौन-सा भर्ग विसके घटित होता है, यह बतलाते हैं ।

#### घटित भर्गों के अधिकारी

छिकसंयोगी भर्गों में से क्षायिक-पारिणामिक यह नीला भर्ग सिद्धों में घटित होता है । क्योंकि सिद्धों में केवलज्ञान, दर्शन, क्षायिक सम्बन्ध, चारित्र, दानादि लक्षित्यां क्षायिक भाव से हैं और जीवत्व पारिणामिक भाव से है ।

श्रिकसंयोगी भर्गों में से औद्यिक-क्षायिक-पारिणामिक रूप पांचवां तथा औद्यिक-क्षायोपशमिक-परिणामिक रूप छठा—यह दो भर्ग संभव हैं । उनमें से पांचवां भर्ग केवली की अपेक्षा से जानना

चाहिये। क्योंकि उनके मनुष्यगति आदि औदयिक भाव से, ज्ञान-दर्शन आदि क्षायिक भाव से और जीवत्व, भव्यत्व पारिणामिक भाव से है।

अठा भंग चारी गति के संमारी जीवों को अपेक्षा जानना चाहिये। उनके नारकत्वादि पर्यावरण औदयिक भाव से, इन्द्रिय मतिज्ञानादि क्षायोपशामिक भाव से और जीवत्व, भव्यत्व या अभव्यत्व पारिणामिक भाव से होता है।

यह भंग गति के भेद से चार प्रकार का है—नहकगति में औदयिक भाव से नारकत्व, क्षायोपशामिक भाव से इन्द्रियादि और पारिणामिक भाव से जीवत्व, भव्यत्व अथवा जीवत्व, अभव्यत्व होता है। तिर्यकगति में औदयिक भाव से तिर्यक्योनित्व, क्षायोपशामिक भाव से इन्द्रियादि और पारिणामिक भाव से जीवत्व आदि घटित होता है। इसी तरह मनुष्य और देवगति वी अपेक्षा भी विचार कर लेना चाहिये।

पूर्वोक्त त्रिकर्त्योगी भंग—औदयिक-क्षायोपशामिक-पारिणामिक भाव में क्षायिक भाव को मिलाने पर चतुःसंयोगी भंग होता है। जो इस प्रकार समझना चाहिये—औदयिक-क्षायिक-क्षायोपशामिक-पारिणामिक। यह चतुःसंयोगी पांच भंगों में से चौथा भंग है। यह भंग भी पूर्वोक्त त्रिकर्त्योगी भंग की तरह गति के भेद से चार प्रकार का है। उसमें औदयिक भाव से मनुष्यत्वादि, क्षायिक भाव से सम्यक्त्व, क्षायोपशामिक भाव से मतिज्ञानादि और पारिणामिक भाव से जीवत्व और भव्यत्व होता है। अथवा पूर्वोक्त त्रिकर्त्योगी भंग के साथ औपशमिक भाव को जोड़ने पर भी चतुःसंयोगी भंग होता है और वह इस प्रकार है—क्षायोपशामिक-औपशमिक-औदयिक-पारिणामिक। यह चतुःसंयोगी भंगों में का तीसरा भंग है। जो पूर्वोक्त भंग की तरह गति के भेद से चार प्रकार का है। लेकिन इतना विशेष है कि क्षायिक सम्यक्त्व के स्थान पर उपशम सम्यक्त्व जानना चाहिये।

पांचसंयोगी भंग क्षायिक सम्यक्त्व में उपशम ध्रेणि के आरोहक

के घटित होता है, अन्यथा घटित नहीं होता है। वह भी इस प्रकार है—औद्यिक-आयोपशमिक-आयिक-आयोपशमिक-पारिणामिक। उसमें औद्यिक भाव में मनुष्यगति आदि, औपशमिक भाव में चारित्र, आयिक भाव में सम्प्रकृत्य, आयोपशमिक भाव में मतिज्ञानादि और पारिणामिक भाव में जीवत्व और भृत्यत्व होता है।

इस प्रकार अवान्तर भंगों के भेदों की अपेक्षा से कुल पन्द्रह भेद घटित होते हैं।<sup>१</sup> इन पन्द्रह भंगों की अपेक्षा से द्विक, त्रिक, चतुर्क और पंचक रूप साधित्यिक भाव दुक्ष जीव होते हैं। इसी का वाया में संकेत किया है कि—‘दुगतिगच्छपंचमीसेहि’—दो, तीन, चार, पाँच भाव से युक्त जीव हैं।

इस प्रकार से भावों का स्वरूप, उनके द्विक आदि के संयोग से होने वाले भंग एवं कौन-कौन से भंग किस प्रकार घटित होते हैं, यह बतलाने के बाद अब पूर्व में जो ‘कथ्य ? सरीरे लोए व’ जीव कहाँ रहते हैं ? और इस प्रश्न के उत्तर में जीव शरीर में रहते हैं, यह कहा था तो अतुर्गति के जोवों में से जिसके जितने शरीर संभव हैं, उसका वर्णन करते हैं।

### संसारी जीवों में संभव शरीर

सुरनेरइया तिसु तिसु वाच्यणिदीतिरक्ष चञ्ज चञ्जसु ।

मण्ड्या पंचसु सेता तिसु तण्सु अदिगमहा सिद्धा ॥४॥

<sup>१</sup> साधित्यिक भावों के पन्द्रह भंग इस प्रकार से घटित होते हैं—जीविक-आयोपशमिक-पारिणामिक यह एक भंग चार गति के भेद से चार प्रकार का है। इन तीन के साथ आयिक भाव को जोड़ने पर चतुर्संयोगी भंग के भी चार भेद होते हैं। अथवा आयिक के स्थान पर उपशम को जोड़ने पर भी चार गति के भेद से चार भेद होते हैं। इस प्रकार बारह भेद हुए। इनमें उपशमओणि का पंचसंयोगी एक भंग, केवलि भगवान् का द्विकसंयोगी एक भंग और सिद्ध का द्विकसंयोगी एक भंग। इन सबका कुल जोड़ पन्द्रह ( $12 + 1 + 1 + 1 = 15$ ) होता है।

**शार्वार्थ—** सुरनेरहया—देव और नारक, तिसु-तिसु—तीन-सीन में, चार—चायुकायिक, पर्णिरी—पचेन्द्रिय, तिरक्ष क्षय—लिंगच, चउ-चउमु—चार-चार में, मनुष्य—मनुष्य, पंचमु—पाँच में, सेसर—शेष जीव, तिसु—तीन, तमुमु—शरीर में, अविभाह—अशरीरी, तिढा—मिठा।

**गाथार्थ—** देव और नारक तीन-सीन शरीर में, चायुकायिक और पचेन्द्रिय लिंगच चार-चार शरीर में, मनुष्य पाँच शरीर में और शेष जीव तीन शरीर में होते हैं। सिद्ध अशरीरी हैं।

**विशेषार्थ—** 'सुरनेरहया तिसु-तिसु' अर्थात् देव और नारक तीन-सीन शरीर में होते हैं, यानि उनके तीन शरीर होते हैं। वे तीन शरीर इस प्रकार हैं—तेजस, कार्मण और वैक्रिय। इनमें से तेजस और कार्मण तो अनादिकाल से सभी संसारी जीवों में होते होते हैं।<sup>१</sup> अतः वे तो होंगे ही तथा देव और नारकों का भवधारणोदय शरीर वैक्रिय है।<sup>२</sup> इसीलिये देव और नारकों के तेजस, कार्मण और वैक्रिय वह तीन शरीर होते हैं।

वायुकायिक और गर्भज पचेन्द्रिय लिंगचों के पूर्वोक्त तीन शरीरों के साथ चौथा औदारिक शरीर मिलाने से चार-चार शरीर होते हैं। तेजस और कार्मण तो सामान्य हैं ही तथा इनका भवधारणोदय शरीर औदारिक होता है तथा वैक्रिय शरीर वैक्रियलक्षितसम्पन्न वायुकायिक जीवों और गर्भज लिंगचों में पाया जाता है। इसीलिये वायुकायिक जीवों और गर्भज पचेन्द्रिय लिंगचों में चार-चार शरीर होते हैं—'वाउपणिदीतिरक्ष चउ-चउमु'।

मनुष्यों के पाँच शरीर होते हैं। उनमें से वैक्रिय शरीर वैक्रियलक्षित वालों के और आहारक शरीर आहारकलक्षितसम्पन्न चतुर्दश पूर्ववर्त को होता है तथा औदारिक, तेजस और कार्मण वे तीन शरीर

१ अनादिसम्बन्धे च । सर्वस्य ।

—तत्त्वार्थसूत्र २/८२, ५३

२ वैक्रियमीपयातिकम् ।

—तत्त्वार्थसूत्र २/४७

तो सामान्यतः सभी तिर्यकों और मनुष्यों के होते हैं। इसीलिये मनुष्यों में पांच शरीर होते हैं—‘मण्ड्या पञ्चशु’।

गुर्वोत्तम से शेष रहे एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रिन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चन्द्रिय तिर्यकों और मनुष्यों के ओदारिक, लैजस, कार्यण यह तीन शरीर होते हैं—‘सेसा तिसु तण्डु’ तथा समस्त कर्मभलरूप कलंक से रहित सिद्ध जीवों के एक भी शरीर नहीं होता है—‘अद्विग्रहा सिद्धा’। क्योंकि सकर्मा होने से संसारी जीवों में ही शरीर पाया जाता है, किन्तु सिद्धों के तो संमार के कारणभूत सभी कर्मों का थाय हो जाने से शरीर होता ही नहीं है।

इस प्रकार किम् आदि पदों द्वारा जीव की प्ररूपणा जानना चाहिये।

### सत्यद आदि पदों द्वारा जीव-प्ररूपणा

अब दूसरे प्रकार से सत्यद आदि नी पदों द्वारा जीव की प्ररूपणा करते हैं। नी पदों के नाम इस प्रकार हैं—

१. सत्यदप्ररूपण, २. द्रव्य प्रमाण, ३. क्षेत्र, ४. स्थर्णना, ५. काल, ६. निरन्तर, ७. भाग, ८. भाव और ९. अल्पवहृत्व। इनमें से प्रथम सत्यदप्ररूपण करते हैं—

पुद्वार्द्धवर्त चउहा साहारवणंपि सत्यं सत्यं ।

पत्तेय घजपञ्जजा दुविहा सेसा उ उववशा ॥४॥

शाद्वार्थ—पुद्वार्द्धवर्त—पुद्वीकाय आदि चार; चउहा—चार प्रकार के, साहारवणंपि—साधारण वनस्पतिकाय भी, संतर्प—विद्यमान होते हैं, सत्यं—सदैव—निरन्तर, पत्तेय—प्रत्येक वनस्पतिकाय, घजपञ्जजा—पर्याप्तिन-अपर्याप्ति, दुविहा—दो प्रकार के, सेसा—शेष, उ—आौर, उववशा—उत्पन्न दुष।

माधवार्थ—पुश्वीकाय आदि चार-चार प्रकार के तथा साधारण वनस्पतिकाय भी चार प्रकार के हैं। प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव पर्याप्त-अपर्याप्ति के भेद से दो प्रकार के सदैव-निरन्तर विद्यमान

होते हैं और शेष जीव पूर्व उत्पन्न हुए होते हैं, किन्तु उत्पन्नमान की भजना समझना चाहिये ।

**द्विशेषार्थ—** जीवस्थानों में जीवों की विद्यमानता के निष्पत्ति को संस्थापनरूपणा कहते हैं । जिसका विचार साथा में किया गया है ।

जीवस्थानों के औद्धृत भेद हैं । उनमें से 'पुढ़वाइचउ'—पृथ्वी-कायादि चार अर्थात् पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय और वायुकाय ये प्रत्येक 'चउहा'—सूक्ष्म और बादर तथा पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चार-चार प्रकार के हैं और उब मिलाकर इनके सोलह भेद होते हैं ।

इसी प्रकार से साधारण बनस्पति जीव भी सूक्ष्म और बादर तथा पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से चार भेदों के भजनना 'अहिन्दे'—'साहारणबण्णपि' तथा 'फलेय पदजपञ्जा' अर्थात् प्रत्येक बनस्पतिकाय जीव पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से दो प्रकार के हैं । इस तरह एकेन्द्रिय के कुल बाईस भेद होते हैं ।

ये सभी प्रत्येक भेद पूर्वोत्पन्न और उत्पन्नमान इस तरह दो-दो प्रकार के हैं । ये बाईस भेद वाले जीव प्रागृत्यम्ब और वत्तमान में उत्पन्न होते हुए निरन्तर होते हैं—'संतमं सयवं', किन्तु उनका विरह-काल नहीं होता है । यानी सर्वथ विद्यमान रहते हैं ।

'सेसा उ' शेषास्तु अर्थात् पूर्वोक्त एकेन्द्रिय से शेष रहे द्विन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और अमंजी पञ्चेन्द्रिय ये प्रत्येक पर्याप्त और अपर्याप्त तथा संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त ये सभी प्रकार के जीव प्रागृत्यम्ब होते हैं और उत्पन्नमान भजनीय हैं । अर्थात् ये नी प्रकार के जीव पूर्वोत्पन्न तो निरन्तर होते हैं, परन्तु विविधत समय में उत्पन्न होते हुए कभी होते हैं और कभी नहीं होते हैं तथा साथा में 'सेसा उ' 'सेसा' के बाद आगल 'उ तु' प्राक्त अमेकार्थक होते से पह आश्रय समझना चाहिये कि संज्ञी लक्ष्य-अपर्याप्त प्रागृत्यम्ब और उत्पन्नमान इस तरह दोनों प्रकार से भजनीय हैं । इसका कारण यह है कि लक्ष्य-

अपर्याप्त संज्ञों की आयु अन्तमुहूर्त प्रमाण है, अतएव उनका अवस्थान उतना ही हो सकता है और उनका उत्पत्ति की अपेक्षा विरहकाल बारह मुहूर्त का है। अतएव उत्पन्न होने के बाद विरहकाल पड़े और प्रागुत्पन्न अपनी आयु पूर्ण करके मरण को प्राप्त करें तो कुछ अधिक यारह मुहूर्त पर्यन्त एक भी लक्ष्मि-अपर्याप्तक संज्ञी पञ्चन्द्रिय प्रागुत्पन्न या उत्पद्यमान नहीं हो सकता है। इसीलिये प्रागुत्पन्न की भी भजन बतलाई है।

**प्रश्न**—झीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी पञ्चन्द्रिय लक्ष्मि-पर्याप्तक भी अन्तमुहूर्त की आयु वाले हैं और उनका विरहकाल भी अन्तमुहूर्त प्रमाण बतलाया है। अतएव वे भी प्रागुत्पन्न भजन से क्यों नहीं होते हैं? याजि लक्ष्मि-अपर्याप्तक संज्ञी की तरह वे भी प्रागुत्पन्न हों या न भी हों, ऐसा क्यों नहीं माना जाये?

**उत्तर**—इसमें कोई दोष नहीं है। क्योंकि विरहकाल से भी उनकी आयु का अन्तमुहूर्त बढ़ा है। असएव विरहकाल पूर्ण होने पर भी प्रागुत्पन्न जीव विद्यमान होते हैं, जिससे प्रागुत्पन्न जीवों की अपेक्षा भजना सम्भव नहीं है।

**प्रश्न**—विरहकाल की अपेक्षा आयु का अन्तमुहूर्त बढ़ा है, मह कैसे जाना जा सकता है?

**उत्तर**—प्रथान्तरों में जहाँ नित्य राशियों का विचार किया है, वहाँ जो नित्य राशियों गिनाई है, उनके साथ लक्ष्मि-अपर्याप्तक दोन्हियादिक की भी गणना की है और वह गणना तभी हो सकती है जब विरहकाल से आयु का अन्तमुहूर्त बढ़ा हो।

इस प्रकार सामान्य से जीव के जीदह ओदों का सत्पदप्ररूपणा द्वारा विचार करने के बाद अब उनमें के अन्तिम भेद (संज्ञी पञ्चन्द्रिय पर्याप्तक) का जीदह गुणस्थानों की अपेक्षा सत्पदप्ररूपणा द्वारा विचार करने के लिये पहले गुणस्थानों का सत्पदप्ररूपणा द्वारा विचार करते हैं।

## गुणस्थानों की सत्तवद्वयपूर्णा।

**मिथ्या अविरयदेसह प्रमत्त अपमत्तया सज्जोदी य ।**

**सत्त्वद्वय इष्टरगुणा नाणाजीवेसु चि न होति ॥८॥**

**शब्दार्थ—**मिथ्या ... मिथ्यात्व, अविरय —अविरतनम्यगृहिणि, देशविरत, प्रमत्त अपमत्तया —प्रमत्त और अप्रमत्त, सज्जोदी —सयोगिकेवली, य —तथा, सत्त्वद्वय —सत्त्व काल, सर्वदा, इष्टरगुणा —इनके लिवरय दूसरे गुणस्थान, नाणाजीवेसु —अनेक जीवों में, चि —भी, न ... नहीं, होति —होते हैं।

**गाथार्थ—**मिथ्यात्व, अविरतसम्यगृहिणि, देशविरत, प्रमत्त और अप्रमत्त संयत तथा सयोगिकेवली गुणस्थान सर्वदा —सर्व काल होते हैं और इनके सिवाय दूसरे गुणस्थान अनेक जीवों की अपेक्षा भी सर्वदा नहीं होते हैं।

**विशेषार्थ—**सत्पदप्रस्तुपूर्णा की दृष्टि से गाथा में स्पष्ट किया है कि नाना जीवों की अपेक्षा जीवह गुणस्थानों में से कीन-कीन से गुणस्थान तो सर्वदा पाये जाते हैं और कीन से नहीं पाये जाते हैं।

**सर्वप्रथम्** सदैव प्राप्त होने वाले गुणस्थानों का निर्देश किया है कि मिथ्याहृष्टि, अविरतसम्यगृहिणि, देशविरत, प्रमत्तसंयत, अप्रमत्त-संयत और सयोगिकेवली ये छह गुणस्थान सर्वकाल होते हैं।<sup>१</sup> अर्थात् इन छह गुणस्थानवलीं जीव निरन्तर होते हैं तथा इन छह गुणस्थानों से ज्ञेय रहे सासादनसम्यगृहिणि, मिथ्या, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसंपराय, सूक्ष्मसंपराय, उपशांतमोह, क्षीणमोह और अयोग्यकेवली, ये आठ गुणस्थान एक जीव और अनेक जीवों की अपेक्षा सर्वकाल नहीं होते हैं। अर्थात् यह सम्भव है कि किसी समय इन आठ गुणस्थानों में से एक भी गुणस्थान में कोई जीव न हो। यदि किसी समय हों तो आठ में से कोई एक गुणस्थान में होते हैं, किसी

१ मिथ्याहृष्टि जीव तो प्रायुत्पन्न और उत्तमान निरन्तर होते हैं और ज्ञेय पाच गुणस्थान वाले जीव प्रायुत्पन्न तो निरन्तर होते हैं, परन्तु उत्तम होते हों, ऐसा नहीं भी होता है। क्योंकि उनका किरहकाल होता है।

समय कोई भी श्री, किसी समय कोई श्री तोन गुणस्थान में हों। इस प्रकार यावत् आठों गुणस्थानों में किसी समय जीव हो तथा उनमें भी किसी समय एक जीव हो, किसों समय अनेक जीव<sup>१</sup> हों और यदि किसी समय न हों तो आठ में से किसी भी गुणस्थान में एक या अनेक की अपेक्षा जीव न हों।<sup>२</sup>

इस प्रकार से गुणस्थानों की सत्त्वदप्रलयणा करने के पश्चात् अब अनियतकाल-भावी पूर्वोक्त सामादन आदि आठ गुणस्थानों के एक-द्विकादि के संयोग से सम्भव भेदों को बताने के लिये करण-सूत्र माध्या कहते हैं कि—

इग्नुगजोगाईणं ठवियमहो एगणेण इह जुषलं ।

इग्निजोगाउ दुदु गुणः गुणियविभिस्ता भवे भंगा॥१॥

**शास्त्रार्थ—**इग्नुगजोगाईणं—एक, द्विक आदि संयोगी भंगों के, ठवियमहो—नीचे स्थापित कर, एगणेण—एक अनेक, इह—इसका, जुषल—युगल, इगि—एक, जोगाउ—संयोग से, दुदु गुण—द्विगुण, गुणियविभिस्ता—गुणित को मिलाने पर, भवे—होते हैं; भंग—भंग ।

**गाथार्थ—**एक, द्विक आदि संयोगी भंगों के नीचे एक-अनेक वा युगल स्थापित कर एक संयोग से लेकर द्विगुण कर दो मिलाओ और गुणित को मिलाने पर कुल भंग होते हैं ।

**विशेषार्थ—**गाथा में एक, द्विक आदि के संयोग से बनने वाले भंगों की विधि बतलाई है कि—

एक, दो, तीन आदि अत्येक संयोग के नीचे एक और अनेकरूप युगल का सूचक अंक दो (२) रखना चाहिये । तत्पश्चात् जिस पद के संयोग की भंगसंख्या निकालना हों, उस पद के संयोग के नीचे रहे हुए युगल के सूचक दो के अंक का उससे पूर्व के पद के संयोग की भंग-

१ अनेक जीवों की भिन्नता संख्या का उल्लेख आगे किया जाएगा ।

२ किसी गुणस्थान पर जीव नहीं होते हैं तो नित्ये काल उक नहीं हीते हैं ? इसका विरहकाल आगे कहा जाएगा ।

संख्या के साथ गुणा करना चाहिये और उसमें दो तथा जिसके साथ गुणाकार किया है, उस संख्या को मिलाने पर उस पद की भंगसंख्या प्राप्त होती है।

अब इस सक्षिप्त कथन का विस्तार से विचार करते हैं—

जिसने शुल्कवाह विकल्प होते हैं और जिसके एक-एक के भेद की संख्या जानना चाहते हैं, असत्कल्पना से उसने बिन्दु रखना चाहिये। यहाँ दूसरा, तीसरा, आठ से बारह तक के पांच और चौदहवाँ इस प्रकार कुल आठ गुणस्थान विकल्प से होते हैं, इसलिये आठ बिन्दु स्थापित करना चाहिये और प्रत्येक बिन्दु के नीचे इस प्रकार से दो का अंक रखना चाहिए—

○ ○ ○ ○ ○ ○ ○ ○  
२ २ २ २ २ २ २ २

इसमें से प्रत्येक पद के दो भंग इस प्रकार जानना चाहिए—

एक और अनेक, ये दो भंग पहली बिन्दु पर रखना चाहिए।

दो पद के आठ भंग होते हैं। जो इस प्रकार समझना चाहिये कि पूर्व में कहा है कि जिस पद की भंगसंख्या निकालना हो, उसमें पूर्व पद की भंगसंख्या के साथ गुणाकार करना चाहिये और उसमें दो मिलाकर जिसके साथ गुणाकार किया है, उस संख्या को मिलाने पर कुल भंगसंख्या प्राप्त होती है।

यहाँ दो पदों की भंगसंख्या निकालनी है, इसलिये उससे पूर्व के एक पद के दो भंग होने से उन दो के साथ दो का गुणा करने पर चार हुए, उनमें दो मिलाये और जो दो के साथ गुणाकार किया है, वह संख्या भी मिलाई। जिससे दो पद के आठ ( $2 \times 2 = 4 + 2 + 2 = 8$ ) भंग हुए। ये आठ भंग दूसरी बिन्दु के ऊपर रखना चाहिये।

प्रश्न—दो पद के सी चार ही भंग होते हैं। जो इस प्रकार से जानना चाहिए कि १—जब दूसरे और तीसरे गुणस्थान में जीव हों, तब किसी समय एक-एक जीव होता है, २—किसी समय दूसरे पर

एक और तीसरे पर अनेक होते हैं, ३—किसी समय दूसरे पर अनेक और तीसरे पर एक होता है, ४—किसी समय दूसरे और तीसरे दोनों पर अनेक होते हैं। इन प्रकार विचार करने पर दो पद के चार ही विकल्प होते हैं, किन्तु अधिक भी होते हैं। अतएव दो पद के आठ भंग सम्भव नहीं हैं।

**उत्तर—** अभिप्राय न समझने के कारण उक्त प्रश्न अयुक्त है। क्योंकि सासादन और मिश्र ये दोनों मुण्डस्थान सदैव अवस्थित हों और मात्र भजना एक-अनेकत्व की अपेक्षा ही हो तो तुम्हारे कथनानुसार दो पद के चार भंग हींगे। परन्तु जब सासादन और मिश्र इन दोनों का स्वरूप से ही विकल्प है कि किसी समय सासादन होता है और किसी समय मिश्र एवं किसी समय दोनों होते हैं। अतएव उनमें से जब केवल सासादन हो और उसके एक-अनेक की अपेक्षा दो, इसी प्रकार मिश्र के भी दो और दोनों युगपत् हों तब चार, इस तरह दो पद के आठ भंग होते हैं।

इसी प्रकार जब तीन पद के भंगों का विचार किया जाये, तब तीन पद से पहले के दो पद के आठ भंग होने से आठ की दो से गुणा करके उनमें दो मिलायें और जिन आठ के साथ गुणा किया है उन आठ को भी मिलाया, जिससे तीन पद के कुल छब्बीस ( $8 \times 2 = 16 + 2 + 2 = 26$ ) भंग हुए। ये छब्बीस भंग तीसरे बिन्दु के ऊपर रखना चाहिये।

अब चार पद के भंगों की संख्या बतलाते हैं—पूर्व के तीन पद की भंगसंख्या छब्बीस के साथ दो का गुणा करने पर बावजूद हुए। उनमें गुणा करने वाली राशि और जिसमें गुणा किया गया ऐसे पिछले छब्बीस और दो भंग मिलाने पर अस्सी ( $26 \times 2 = 52 + 26 + 2 = 80$ ) भंग हुए। इन चार पद के भंगों की चीजें बिन्दु के ऊपर रखना चाहिये।

अब पाँच पद के भंगों का निर्देश करते हैं—चार पद के पूर्वोक्त

अस्सी भंगों को दो से गुणा करने पर प्राप्त राशि में दो एवं अस्सी को मिलाना चाहिये ( $८० \times २ = १६० + २ + ८० = २४२$ )। जिससे पांच पद के कुल दो सौ बयालीस भंग होते हैं, जिन्हें पांचवें बिन्दु के ऊपर रखना चाहिये।

अब छह पद के भंग कहते हैं—पूर्वोत्त पांच पद की दो सौ बयालीस भंग संख्या में नीचे के दो अंक से गुणा करना चाहिये और उसमें दो तथा जिस संख्या में दो से गुणा किया है, उस दो सौ बयालीस की संख्या को मिलाने पर छह पद की कुल भंगसंख्या सात सौ अट्टाईस होती है। जिसका रूप इस प्रकार होगा ( $२४२ \times २ = ४८४ + २४२ + २ = ७२८$ )। इसको छठे बिन्दु के ऊपर रखना चाहिये।

अब सात पद की भंगसंख्या बतलाते हैं कि पूर्वोत्त सात सौ अट्टाईस को दो से गुणा करके दो और पूर्वोत्त सात सौ अट्टाईस को मिलाने पर कुल संख्या ( $७२८ \times २ + २ + ७२८ = २१८६$ ) इक्कीस सौ छियासी होगी। जिसे सातवें बिन्दु पर रखना चाहिये।

बब आठ पद की भंगसंख्या बतलाते हैं कि पूर्वोत्त इक्कीस सौ छियासी को दो से गुणा करके उसमें दो और सात पद की भंगसंख्या इक्कास सौ छियासा को मिलाया जिससे आठ पद की कुल भंग-संख्या एसठ सौ साठ ( $२१८६ \times २ + २१८६ + २ = ६५६०$ ) हो जाता है।

सरलता से समझने के लिये जिसका प्रारूप इस प्रकार का है—

२	८	२६	८०	२४२	७२८	२१८६	६५६०
०	०	०	०	०	०	०	०
२	२	२	२	२	२	२	२

इस प्रकार सासाठन आदि आठ गुणस्थानों के द्विक आदि के संयोग से बनने वाले भंगों की विधि और उनकी संख्या जानना चाहिये। बब इन्हीं भंगों को गिनने की दूसरी रीति कहते हैं—

अहूवा एकपर्विया दो भगा इग्निवट्टससज्जा जे।

ते चित्तय पथवुड्डीए तिगुणा दुगसंजुया भगा॥८॥

**शास्त्रार्थ—अथवा—** एक-एक पद के, दो—दो, चंगा— चंगा, इगिवहुत्तस्था—एकत्व और बहुत्व संज्ञा वाले, जै—जौ, से चिन्हय— उन्हीं को, पदबुद्धीए—पद की वृद्धि में, तिगुना करके, हुगसंख्या— दो को मिलाने पर, चंगा— चंगा ।

**गाथार्थ—अथवा** एकत्व और बहुत्व संज्ञा वाले एक-एक पद के जो दो-दो चंगा होते हैं, उनको पद की वृद्धि में तिगुना करके दो को मिलाने पर कुल चंगा होते हैं ।

**चिशेषार्थ—पूर्व** में प्रत्येक पद के चंगा निकालने की जो विधि बतलाई है, उससे अिल दूसरे प्रकार की विधि यह है कि—

जब आठ में से कोई भी एक गुणस्थान हो तब उसके एक और अनेक के भेद से दो-दो चंगा होते हैं । जैसे कि जब एक सासादन गुणस्थान में ही जीव हों, अन्यत्र सात गुणस्थानों में जीव न हों और उसमें भी किसी समय एक दो, जिसी समय अनेक हों, उस तरह एक-अनेक के भेद से दो चंगा होते हैं । इस प्रकार एक-एक पद के दो-दो चंगा हुए ।

अब इस नियम के अनुसार दो, तीन आदि पद के एक-अनेक के होने वाले चंगों को जानने की विधि बतलाते हैं कि जितनेवें पद के एक-अनेक के चंग जानने की इच्छा हो, उससे पहले के पद की चंगसंख्या की तिगुना करके उसमें दो जोड़ देना चाहिये, जिससे इच्छित पद की चंगसंख्या प्राप्त होती है । जैसे कि दो पद की संख्या निकालनी हो, तब उससे पूर्व की चंगसंख्या जो दो है, उसे तिगुना करके दो जोड़ने पर दो के चंगों की आठ संख्या प्राप्त होती है ।

यदि तीन पद की चंगसंख्या जानना हो, तब उससे पूर्व के दो पद के आठ चंगों को तिगुना करके उसमें दो को मिलाने पर तीन पद के एक-अनेक की चंगसंख्या छब्बीस प्राप्त होती है तथा इसी प्रकार छब्बीस को तिगुना करके उसमें दो को मिलाने पर चार पद के अस्सी चंग हो जाते हैं ।

इसी विधि से पांच पद के दो सौ बयासीस, छह पद के सात सौ

अद्वाईस, सात पद के इकट्ठोंस सी छियासी और आठ पद के ऐसठ सी साठ भंग प्राप्त करना चाहिये ।

इस प्रकार से सदादप्रस्तुता का विचार जानना चाहिये । अद्वयप्रमाण—जीडह जीवस्थानों में से प्रत्येक जीवस्थान की तथा गुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या बतलाते हैं ।

### द्रव्यप्रमाण

साधारणार्थ भेदा चउरो अर्णतां असंख्या सेसा ।

मिश्चार्णता अउरो पलियासंख्यांस सेस संखेज्जा ॥६॥

**शब्दार्थ**—साधारणार्थ—माध्यारण के, भेदा—भेद, चउरो—चरों, अर्णता—अनन्त, असंख्या—असंख्य, सेसा—येष भेद, मिश्चार्ण—मिश्चार्णिटि, शेसा—अनन्त, चउरो—कार, पलियासंख्यांस—पत्योपम के अर्णतात्वे भाग, सेस—येष, संखेज्जा—संख्यात ।

**गाथार्थ**—साधारण वनस्पति के चारों भेद अनन्त हैं और येष भेद असंख्यात हैं । मिश्चार्णिटि अनन्त है, उसके बाद के चार गुणस्थान वाले पल्योपम के असंख्यात्वे भाग प्रमाण एवं येष गुणस्थानवर्ती जीव संख्यात हैं ।

**विशेषार्थ**—गाथा के पृवर्धि और उत्तरार्थ में क्रमशः जीवस्थानों और गुणस्थानों की अपेक्षा जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाया है ।

जीवस्थानों की अपेक्षा जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाने के लिये कहा है कि साधारण वनस्पतिकाय के चारों भेद—सूक्ष्म, बादर, पर्याप्ति और अपर्याप्ति अनन्त संख्या प्रमाण हैं । क्योंकि ये जीव अनन्त लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं तथा सूक्ष्म, बादर, पर्याप्ति और अपर्याप्ति के रूप से चार-चार प्रकार के येष पृथ्वी, अप्, तेज, वायु और पथरित-अपर्याप्ति प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय तथा पर्याप्ति-अपर्याप्ति द्विनिधि, त्रीनिधि, चतुर्निधि, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय, कुल अद्वाईस प्रकार के जीवों की संख्या असंख्यात प्रमाण है । क्योंकि प्रत्येक भेद कल्पे ये जीव असंख्यात प्रमाण हैं ।

**जीवका**—अपर्याप्ति संज्ञी जीव असंख्यात कैसे कहे जा सकते हैं ? क्योंकि वे हमेशा होते नहीं हैं, उनकी आयु अनन्तमुहूर्त है और विरह-काल बारह मुहूर्त है। इसलिये कुछ अधिक ग्यारह मुहूर्त तक तो एक भी अपर्याप्ति संज्ञी जीव होता नहीं है, तो किर असंख्यात कैसे माने जा सकते हैं ?

**समाधार**—उपर्युक्त वैश्य रूपित्व मही है। क्योंकि पश्चिमि वे सदैव नहीं होते हैं, किन्तु जब भी होते हैं तब जघन्य से एक-दो और उल्कुष्ट से असंख्यात होते हैं। जब होते हैं तब उपर्युक्त संख्या का सदूभाव है। इसलिये असंख्यात कहने में किसी भी प्रकार का विरोध नहीं है। कहा भी है—

‘एणो व दो व तिनि व संज्ञमसंखा व एकसमर्थः’

**अथत्**—एक समय में एक, दो, तीन, संख्यात, अथवा असंख्यात उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार सामान्य से जीवमेदापेक्षा संख्याप्रमाण जानना चाहिये। अब गुणस्थानों की अपेक्षा जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाते हैं कि—

‘मित्त्वाण्ता’ अथत् मित्त्वाहृष्टि जीव अनन्त है। क्योंकि वे अनन्त लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं। समस्त नियोदिया जीव मित्त्वाहृष्टि होते हैं और नियोदराशि अनन्त है। अतएव अनन्त संख्या की पूर्ति करने वाले वे ही जीव हैं और उन्हीं के कारण मित्त्वाहृष्टि जीवों की संख्या अनन्त मानी जाती है। तथा—

‘चडरो पलियासंखेस’ अथत् मित्त्वात्व गुणस्थान से अनन्तरबती चार गुणस्थान वाले जीव यानि सासादनसम्यग्हृष्टि, मित्त्वाहृष्टि, अविरतसम्यग्हृष्टि और देशविरत गुणस्थान वाले जीव क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवै भाग प्रमाण हैं। यद्यपि अध्रुव होने से सासादन और मित्त्वाहृष्टि गुणस्थान वाले जीव सदैव नहीं होते हैं परन्तु जब होते हैं तब जघन्य से एक-दो और उल्कुष्ट से क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवै भाग प्रमाण होते हैं।

अविरतसम्यग्दृष्टि और देशविरत जीव सदैव होते हैं। क्योंकि ये दोनों गुणस्थान ध्रुव हैं। मात्र किसी समय कम होते हैं और किसी समय अधिक होते हैं। फिर भी दोनों गुणस्थान वाले जीव जचन्य से भी क्षेत्रफलयोग्य के असंख्यात्में भाग में विद्यमान प्रदेशराजि प्रमाण होते हैं और उत्कृष्ट से भी इतने ही हैं। परस्तु असंख्यात्म के असंख्यात्म में द होने से जचन्य पत्थोपम के असंख्यात्में भाग से उत्कृष्ट पत्थोपम का असंख्यात्मवाँ भाग असंख्यात्म गुणा बढ़ा जानना चाहिये तथा देशविरल से अविरतसम्यग्दृष्टि जचन्य से और उत्कृष्ट से बहुत अधिक समझना चाहिये। क्योंकि अविरतसम्यग्दृष्टि तो आरोगति में ही होते हैं और देशविरत मात्र मनुष्य और तिर्यक गति में ही होते हैं।

पूर्वोक्त पांच गुणस्थानों से योग रहे प्रभस्त आदि प्रत्येक गुणस्थान के जीव निश्चित संख्या वाले ही होते हैं 'सेस सेसेकजा'। क्योंकि ये गुणस्थान सिर्फ मनुष्यगति में ही प्राप्त होते हैं। इनकी निश्चित संख्या का प्रमाण आगे बताया जा रहा है।

इस प्रकार सामान्य से द्रव्यप्रमाण का निर्देश करने के बाद अब विशेष विस्तार से द्रव्यप्रमाण का विवेचन करते हैं।

### विस्तार से द्रव्यप्रमाण विवेचन

पत्तेयपञ्जवणकाइयात् पथर हरति लोगस्स ।

अंगुल-असंख्यभागेण भाइयं सूदगतण् य ॥१०॥

शब्दार्थ—पत्तेय—प्रत्येक, पञ्ज—पर्याप्ति, वणकाइया—वनस्पतिकार्यिक, उ—और, पथर—प्रस्तर, हरति—अपहार करते हैं, लोगस्स—लोक के, अंगुल—असंख्य-भागेण—अंगुल के असंख्यात्में भाग द्वारा, भाइयं—भाइय, सूदगतण्—पृथ्वीकार्यिक, जलकार्यिक, य—और।

गाथार्थ—पर्याप्ति प्रत्येक वनस्पतिकाय, पर्याप्ति बादर पृथ्वीकाय और जलकाय के जीव अंगुल के असंख्यात्में भाग द्वारा विभाजित लोक सम्बन्धी प्रतर का अपहार करते हैं।

विशेषार्थ—पर्याप्ति प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय, पर्याप्ति बादर पृथ्वीकाय और पर्याप्ति बादर जलकाय के जीव सात राजू प्रमाण

'घनीकृत लोक' के प्रतिर भीचे के प्रदेश रहित एक-एक प्रदेश की ओटाइ-स्टंप मंडक के आकाश वाले प्रतर<sup>१</sup> को अंगुलमात्र क्षेत्र के असंख्यातवै भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश के द्वारा विभाजित करते हुए अपहार करते हैं।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि समस्त पर्याप्त प्रत्येक बादर वनस्पति-काय के जीव एक ही समय में सम्पूर्ण प्रतर का अपहार करने के लिये उद्यत हों और यदि एक समय एक-एक जीव अंगुल के असंख्यातवै भाग प्रमाण एक-एक खण्ड को अपहृत करे— यहण कर तो एक ही समय में वे समस्त जीव उस सम्पूर्ण प्रतर को अपहृत करते हैं— यहण करते हैं। जिससे यह अर्थ फलित हुआ कि घनीकृत लोक के एक प्रतर में अंगुल के असंख्यातवै भाग प्रमाण जितने खण्ड होते हैं, उसने पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति-काय के जीव हैं तथा हसी प्रकार 'भूदगत्यूष'— यानि पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय और जलकाय के जीवों के प्रमाण के लिये भी समझ लेना चाहिये कि वे भी घनीकृत लोक के एक प्रतर में अंगुल के असंख्यातवै भाग प्रमाण जितने खण्ड होते हैं, उसने हैं।

यद्यपि सामान्य से देखने पर इन तीनों प्रकार के जीवों का प्रमाण समान है। फिर भी अंगुल के असंख्यातवै भाग के असंख्यात भेद होने से इन तीनों का इस प्रकार अल्पबहुत्सव समझना चाहिये—

पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति-काय के जीव अल्प हैं, उनसे पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय के जीव असंख्यातगुण हैं और उनसे भी (पर्याप्त बादर

१ चौदह राजू ऊंचे लोक को घनीकृत करने की विधि को परिशिष्ट में देखिये।

२ चौदह राजूप्रमाण लोक को बुढ़ि द्वारा लाल राजू लम्बा, चौड़ा और ऊँचा करना घनीकृत लोक कहता है। उसकी एक-एक प्रदेश लम्बी-चौड़ी और सात राजू ऊँची आकाशप्रदेश की पंक्ति को सूचिशेणि और सूचिशेणि के बांग को प्रतर कहते हैं।

पृथ्वीकाय के जीवों से) पर्याप्त बादर जलकाय के जीव असंख्यातगुणे हैं।<sup>१</sup> तथा—

आबलिकग्नो अन्तरावलीय गुणिमो हु बायरा लेङ ॥

बाऊ य लोगसंसंख्या सेसतिगमसंखिया खोया ॥११॥

शब्दार्थ—आबलिकग्नो—आबलिक के वर्ग को, अन्तरावलीय—अन्तरावलिका से—कुछ न्यून आबलिक है, गुणिमो—गुण करने पर, हु—ही, बायरा लेङ—बायर तेजस्काय के जीवों का प्रमाण, बाऊ—बायुकाय के जीव, य—और, लोगसंख्या—लोक के संख्यात्में भाग में, सेसतिगम—योग तीन, असंखिया—असंख्यात्में भाग, खोया—लोक के ।

गाथार्थ—आबलिकाय के वर्ग को अन्तरावलिकाय के समयों द्वारा गुणा करने पर जो प्रमाण आता है, उसने बादर तेजस्काय के जीव हैं और लोक के संख्यात्में भाग में जितने आकाशप्रदेश हैं, उसने ही बादर बायुकाय के जीव जानना चाहिये तथा योग तीन असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं ।

विशेषार्थ—प्रत्येक बादर वनस्पति आदि तीन काय के जीवों की संख्या का प्रमाण बताना ने के बाद अब इस गाथा में बादर तेजस् और बायु काय के जीवों का प्रमाण और इन यांचों स्थावर जीवों के भौतिकीय

<sup>१</sup> प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव अलग हैं और पृथ्वीकाय के जीवों के असंख्यात् गुणे होने का कारण यह है कि वनस्पतिकाय में पृथ्वीकाय का शरीर सूक्ष्म है और उत्पत्तिस्थान का ध्रेव विश्वाल है । वनस्पतिकाय के जीव मात्र रत्नप्रभा के ऊंगर के तल में विश्वाल पृथ्वी, नदी, समुद्र और उपवन आदि में उत्पन्न होते हैं और पृथ्वीकायिक जीव तो नदकों के असंख्य योजनप्रमाण याँच-जीड़े पृथ्वीगिड़ों, देवनोक के बड़े-बड़े विश्वानों आदि स्थानों पर उत्पन्न होते हैं । उनसे अप्तकायिक जीवों का शरीर सूक्ष्म और उनका उत्पत्तिस्थान विश्वाल होने से वे पृथ्वीकायिक जीवों से भी असंख्यातगुणे हैं । यदोंकि वे असंख्यात समुद्रों और घनोद्धिगिड़ों में उत्पन्न होते हैं ।

का अल्पबहुत्व बतलाया है। पहले बादर तेजस्काय और वायुकाय के जीवों का प्रमाण बतलाते हैं।

आबलिका के वर्ग की कुछ न्यून आबलिका के समयों द्वारा गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, उतने बादर पर्याप्त तेजस्काय के जीव हैं। असत्कल्पना से जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार जानना चाहिये—

असंख्यात समय की एक आबलिका होती है, लेकिन असत्कल्पना से उसे दस समय की मानकर उसका वर्ग करें, जिससे दस को दस से गुणा करने पर सी हुए। उनको कुछ कम आबलिका के समयों द्वारा गुणा करें। यहीं कुछ कम का प्रमाण दो समय में सी आबलिका के कुल दस समयों में से दो को कम कर आठ समयों द्वारा गुणा करने पर आठ सी हुए। यह बादर तेजस्काय के जीव का प्रमाण जानना चाहिये। लेकिन यथार्थरूप से तो आबलिका के समय चौथे असंख्यात जिसमें होने से चौथे असंख्यात की संख्या को उसी संख्या से गुणा करने पर जो राशि प्राप्त हो, उसको कुछ कम चौथे असंख्यात की संख्या से गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त हो, उतने बादर तेजस्काय के जीव हैं।

पर्याप्त बादर वायुकाय के जीव लोक के संख्यात्वे भाग प्रमाण हैं—‘वाऽऽय लोगसंख्या’। अर्थात् घनीकृत लोक के असंख्याता प्रतर के संख्यात्वे भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण पर्याप्त बादर वायुकाय के जीव हैं।

इस प्रकार से पर्याप्त बादर स्थावर जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाने के बाद अब उनके अल्पबहुत्व का विवेचन करते हैं।

बादर पर्याप्त तेजस्काय के जीव सबसे अल्प हैं, उनसे पर्याप्त प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय के जीव असंख्यातगुणे हैं, उनसे पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय के जीव असंख्यातगुणे हैं, उनसे पर्याप्त बादर जलकाय के जीव असंख्यातगुणे हैं और उनसे पर्याप्त बादर वायुकाय

के जीव असंख्यातम् गुणे हैं<sup>१</sup> और उनसे 'सेसतिगमसंखिया लोगा'—शेष श्रिक (तीन) असंख्यात् लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं।

यही शेषश्रिक से अपर्याप्त बादर और अपर्याप्त, पर्याप्त सूक्ष्म का ग्रहण समझना चाहिये। जिसका यह अर्थ हूआ कि अपर्याप्त बादर पृथ्वी, जल, तेज और वायु तथा पर्याप्त, अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वी, जल, तेज और वायु, ये प्रत्येक प्रकार के जीव असंख्येय लोकाकाश में विद्यमान आकाशप्रदेश प्रमाण हैं। इस प्रकार पूर्वोत्तर राशिश्रिक का सामान्य से अल्पबहुत्व जानना चाहिये।

यदि उक्त राशिश्रिक का स्वस्थान में विशेषापेक्षा अल्पबहुत्व का विचार करें तो वह इस प्रकार है—अपर्याप्त बादर सबसे अल्प हैं, उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म असंख्यातम् गुण हैं, उनसे पर्याप्त सूक्ष्म संख्यातम् गुण हैं।

शेषश्रिक का ग्रहण उपलक्षण-सूचक है। अतः उसका यह अर्थ समझना चाहिये कि अपर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय भी असंख्यात् लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं तथा यह पहले कहा जा सुका है कि साधारण वनस्पतिकाय के सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त, अपर्याप्त ये जीवों भेद वाले जीव सामान्यतः अनन्त लोकाकाशप्रदेश प्रमाण हैं तथा विशेषतः विचार करने पर उनका अल्पबहुत्व इस प्रकार जानना चाहिये कि बादर पर्याप्त साधारण जीव अल्प हैं, उनसे बादर अपर्याप्त साधारण असंख्यातम् गुणे, उनसे सूक्ष्म अपर्याप्त साधारण असंख्यातम् गुणे हैं और उनसे पर्याप्त सूक्ष्म साधारण संख्यातम् गुणे हैं।<sup>२</sup>

१ बादर पर्याप्त तेजस्ताय के जीव अल्प होने का कारण उनका मृद्भाव साथ ढाई द्वितीय में ही है और वष्टुकाय के जीवों के सबसे अधिक होने का कारण क्षेत्र की विषुलता है। लोक के ममस्त धौष में वायुकाय के जीव हैं।

२ दिव्यम्बर माहित्य में बताये गये अधार जीवों के प्रमाण को परिशिष्ट में देखिये।

इस प्रकार से एकेन्द्रियों की संख्या बतलाने के बाद अब विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों की संख्या बतलाते हैं—

**पञ्चापञ्चाता वित्तचउ असञ्जिणो अवहृति ।**

**अंगुल-संख्यासंख्यएसमझयं पुढो पथरं ॥१२॥**

**शाश्वार्थ—**पञ्चापञ्चाता—पर्याप्ति, अपर्याप्ति, वित्तचउ असञ्जिणो—  
द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय, अवहृति—अपहार करते हैं,  
अंगुल संख्यासंख्यएस—अंगुल के संख्यातवें और असंख्यातवें भाग प्रदेश से,  
झड़य—विभाजित, पुढो—(पुथक्) प्रत्येक, पथरं—प्रतर ।

**शाश्वार्थ—**पर्याप्ति, अपर्याप्ति द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और  
असंज्ञी पंचेन्द्रिय, ये प्रत्येक जीव अनुक्रम से अंगुल के संख्यातवें  
और असंख्यातवें भाग द्वारा विभाजित प्रतर का अपहार करते हैं ।

**दिशेषार्थ—**द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय—  
ये प्रत्येक पर्याप्ति और अपर्याप्ति जीव अनुक्रम से अंगुल के संख्यातवें  
और असंख्यातवें भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश द्वारा विभाजित करते हैं  
हुए सम्पूर्ण प्रतर का अपहार करते हैं । जिसका विशेष स्पष्टीकरण  
इस प्रकार है—

समस्त पर्याप्ति द्वीन्द्रिय जीव एक साथ यदि अंगुलमाल छोड़ के  
संख्यातवें भाग प्रमाण प्रतर के खण्ड का अपहार करते तो वे समस्त  
द्वीन्द्रिय जीव एक ही समय में सम्पूर्ण प्रतर का अपहार करते हैं ।  
तत्पर्य यह हुआ कि सात रात्रिप्रमाण धनीकृत लोक के एक प्रतर के  
अंगुल के संख्यातवें भाग प्रमाण जितने खण्ड हों, उतने पर्याप्ति द्वीन्द्रिय  
जीव हैं ।

इसी प्रकार पर्याप्ति श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय  
जीवों के लिये भी समझना चाहिये ।

अब अपर्याप्ति विकलेन्द्रियों और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण  
बतलाते हैं कि एक प्रतर के अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण जितने  
खण्ड हों, उतने अपर्याप्ति द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और असंज्ञी

पंचेन्द्रिय जीव समझना चाहिये । यानि एक प्रतर के आकाशप्रदेशों को अंगुल के असंख्यातवृ भाग में रहे आकाशप्रदेशों द्वारा विभाजित करने पर जो प्राप्त हो उसना अपर्याप्त द्विन्द्रियादि प्रत्येक जीवों का प्रमाण है ।

**ब्रह्मि** ये समस्त पर्याप्त और अपर्याप्त द्विन्द्रियादि जीव समान्य से तो समान प्रमाण वाले बतलाये हैं, फिर भी अंगुल का संख्यातवृ और असंख्यातवृ भाग छोटा, बड़ा लेने के कारण विशेषावेक्षा उनका अल्पबहुत्व इस प्रकार जानना चाहिये—

पर्याप्त चतुरन्द्रिय जीव सबसे अल्प, उनसे पर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय विशेषाधिक<sup>१</sup>, उनसे पर्याप्त द्विन्द्रिय विशेषाधिक, उनसे पर्याप्त त्रीन्द्रिय विशेषाधिक, उनसे अपर्याप्त असंज्ञी पंचेन्द्रिय असंख्यात युग्म, उनसे अपर्याप्त चतुरन्द्रिय विशेषाधिक, उनसे अपर्याप्त त्रीन्द्रिय विशेषाधिक और उनसे अपर्याप्त द्विन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं ।

इस प्रकार एकेन्द्रिय से लेकर असंज्ञी पंचेन्द्रिय तक के जीवों का प्रमाण जानना चाहिये । अब शेष रहे सज्जी पंचेन्द्रिय जीवों के प्रमाण की प्रलयणा करते हैं ।

### संज्ञी जीवों का प्रमाण

सप्तो चतुर्सु गद्दिसु पद्मात् असंख्यसेदि नेरइया ।

सेदिअसंखेडजंसो सेसासु जहोतरं तह य ॥१३॥

शब्दार्थ—सप्तो—संज्ञी जीव, चतुर्सु गद्दिसु—चारीं गतियों में, पद्मात्—पहले नरक में, असंख्यसेदि—असंख्यात् युक्तिये थि, नेरइया—नारक, सेदि—असंखेडजंसो—थे जि के असंख्यातवृ भाग प्रमाण, सेसासु—शेष भरकी में, जहोतरं—यथा उत्तर अर्थात् उत्तरोत्तर, तह—तथात्त्व, य—और ।

ताथार्थ—संज्ञी जीव चारीं गतियों में होते हैं । पहले नरक में

१ एक संख्या अन्य संख्या से बड़ी होकर भी जब तक दुष्टी न हो, तब तक वह उससे विशेषाधिक कही जाती है । जैसे कि ५ या ५ की संख्या ३ से विशेषाधिक है; किन्तु ६ की संख्या ३ से दुष्टी है, विशेषाधिक नहीं है ।

असंख्यात् सूचिश्रेणिप्रमाण नारक हैं और शेष नरकों में श्रेणि के असंख्यातवैं भाग प्रमाण नारक हैं और उन्हें यथोत्तर के क्रम से तथारूप अथवा उत्तरोत्तर असंख्यातवैं-असंख्यातवैं भाग प्रमाण जानना चाहिये।

**विशेषार्थ—**नारक, तिर्यक, मनुष्य और देव के भेद से संसारी जीवों की चार गतियाँ हैं और संज्ञी जीव चारीं गतियों में होते हैं। इसलिये चारों गतियों की अपेक्षा संज्ञी जीवों का विचार करना अपेक्षित है। सर्वप्रथम नरकगति की अपेक्षा विचार करते हैं—

‘पदमाए असंख्यसेदि नेरइया’ अथवा पहली रत्नप्रभा भरकपृथ्वी में सात राजूप्रमाण धनीकुल लोक की एक प्रादेशिकी असंख्याती सूचिश्रेणिप्रमाण नारक है। अथवा असंख्याती सूचिश्रेणि के लितने व्याप्ति प्रदेश होते हैं, उतने पहले नरक में नारक हैं तथा शेष दूसरी आदि नरकपृथ्वी में सूचिश्रेणि के असंख्यातवैं भाग, परन्तु उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व पृथ्वी में रहे हुए नारकों की अपेक्षा असंख्यातवैं भाग, असंख्यातवैं भाग जानना चाहिये—‘सेदिअसंख्येऽसो सेसामु जहोतरं तह’। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पहली पृथ्वी के नारकों से दूसरी पृथ्वी में नारक श्रेणि के असंख्यातवैं भाग, दूसरी नरकपृथ्वी में रहे हुए नारकों की अपेक्षा तीसरी नरकपृथ्वी में असंख्यातवैं भाग प्रमाण नारक हैं, तीसरी पृथ्वी की अपेक्षा चौथी पृथ्वी में असंख्यातवैं भाग प्रमाण नारक हैं, इत्यादि। इसी प्रकार यातों नरकपृथ्वियों के नारकों के लिये समझना चाहिये। उत्तरोत्तर श्रेणि का असंख्यातवैं भाग छोटा-छोटा होने से यह अल्पबहुत्व घट सकता है।<sup>१</sup>

१ यहाँ बताई गई नारकों की संख्या से शोभ्मटसार जीवकांड में दी गई नारकों की संख्या में भिन्नता है—

सरमणा णेरइया धनर्गुलविदिव्यमूलमृणसेही ।

विदिपादि वार दस अड़ छत्ति मुणिअपविद्वा सेदी ॥१५३॥

**प्रश्न—** यह वैदेशी समस्त देशों कि दूल्ही पृथ्वी से लेकर उत्तरोत्तर असंख्यात वै भाग, असंख्यात वै भाग प्रमाण नारक हैं ?

**उत्तर—** युक्ति से यह समझा जा सकता है और कह युक्ति इस प्रकार है—सातवीं नरकपृथ्वी में पूर्व, पश्चिम और उत्तर दिशा में रहे हुए नारक अल्प हैं, किन्तु उनसे ऊसी सातवीं नरकपृथ्वी की दक्षिणदिशा में रहे हुए नारक असंख्यात गुणे हैं।

**प्रश्न—** दक्षिणदिशा में असंख्यात गुणे क्यों हैं ?

**उत्तर—** जगत में दो प्रकार के जीव हैं—(१) शुक्लवाक्षिक, (२) कृष्णवाक्षिक । इन दोनों के लक्षण इस प्रकार हैं—जिन जीवों का कुछ क्रम अर्धपुद्गल परावर्तन मात्र संसार ही शेष हो, वे शुक्लवाक्षिक कहलाते हैं और अर्धपुद्गल परावर्तन से अधिक संसार जिनका शेष हो, उनको कृष्णवाक्षिक कहते हैं ।<sup>१</sup>

अतएव अर्धपुद्गल परावर्तन<sup>२</sup> से न्यून संसार वाले जीव अल्प होने से शुक्लवाक्षिक जीव अल्प हैं और कृष्णवाक्षिक अधिक हैं ।

कृष्णवाक्षिक जीव सथास्वभाव से दक्षिणदिशा में अधिक उत्पन्न होते हैं, परन्तु शेष तीन दिशाओं में अधिक उत्पन्न नहीं होते हैं । दक्षिण-दिशा में कृष्णवाक्षिक जीवों का अधिक संख्या में उत्पन्न होने का कारण

अर्थ—सामान्यतया सम्पूर्ण नारकों का प्रमाण घनांगुल के दूसरे वर्षमूल से गुणित जगत्-श्रेणि प्रमाण है । द्वितीयादि पृथिव्यों में रहने वाले नारकों का प्रमाण क्रम से अपने बारहवें, दसवें, आठवें, छठे, तीसरे और दूसरे वर्षमूल से भक्त जगत्-श्रेणि प्रमाण समझना चाहिये तथा नीचे की छह पृथिव्यों के नारकों का जिसना प्रयाण हो, उसको सम्पूर्ण नारकराशि में से धटाने पर जो शेष रहे, उतना ही प्रथम पृथ्वी के नारकों का प्रमाण है ।

१ जेसिमवद्दो योग्यतपरियद्वे सेसज्जो य संसारो ।

ते सुक्लवाक्षिका खलु अहीरं पुण कण्ठपक्षीआ ॥

२ निष्ठकार आचार्य ने आगे गाथा ३७-४१ में पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाया है ।

तथास्वभाव है। उस तथास्वभाव को पूर्वजियों ने युक्ति द्वारा इस प्रकार स्पष्ट किया है—

कृष्णपाक्षिक जीव दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करने वाले कहलाते हैं। दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करने वाले अधिक पाप के उदय वाले होते हैं। क्योंकि पाप के उदय के बिना संसार में परिभ्रमण नहीं होता है। बहुत से पाप के उदय वाले क्रूरकर्मी होते हैं। क्रूरकर्मी के बिना अधिक पाप का बन्ध नहीं होता है और क्रूरकर्मी प्रायः भव्य होने पर भी तथास्वभाव—जीवस्वभाव से दक्षिण-दिशा में अधिक उत्पन्न होते हैं, किन्तु शेष तीन दिशाओं में अधिक प्रमाण में उत्पन्न नहीं होते हैं। कहा भी है—

पापमिह कुरकम्मा भवसिद्धिया वि वाहिणालेसु ।

नैरइय-तिरिय-भण्यान्मुराइडानेसु गल्लन्ति ॥

अथवा कृष्णपाक्षिक जीव क्रूरकर्मी होते हैं। जिससे भव्य होने पर भी नारक, तिर्यक, मनुष्य और देवगति आदि स्थानों में प्रायः दक्षिण-दिशा में उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार दक्षिणदिशा में बहुत से कृष्णपाक्षिक जीवों की उत्पत्ति सम्भव होने से पूर्व, उत्तर और पश्चिम से दक्षिणदिशा के नारक असंख्यातगुणे सम्भव हैं।

सातवीं नरकपृथ्वी की दक्षिणदिशा के नारकों से छठी तमः-प्रभा नरकपृथ्वी में पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा में उत्पन्न हुए नारक असंख्यातगुणे हैं। इनके असंख्यातगुणों होने का कारण यह है कि सर्वाधिक निकृष्टतम् पाप करने वाले संज्ञी पञ्चद्विष्य तिर्यक और मनुष्य सातवीं नरकपृथ्वी में उत्पन्न होते हैं और कुछ न्यून-न्यून पाप करने वाले छठी आदि नरक पृथ्वी में उत्पन्न होते हैं। सर्वाधिक पाप करने वाले सबसे अल्प होते हैं और अनुक्रम से कुछ न्यून-न्यून पाप करने वाले अधिक-अधिक होते हैं। इस हेतु से सातवीं नरक-पृथ्वी के दक्षिणदिशा के नारक जीवों की अपेक्षा छठी नरकपृथ्वी में

पूर्व, उत्तर, पश्चिम दिशा के नारकों का असंख्यातमूणल्ल घटित होता है। इसी प्रकार उत्तरोत्तर नरकपृथिव्यों की अपेक्षा भी जान लेना चाहिये।

उन्हीं से उसी छठी पृथ्वी की दक्षिणदिशा में रहने वाले नारक असंख्यातगुणे हैं। इनके असंख्यातगुणे होने के कारण को पूर्व कथनानुरूप समझना चाहिये। उनसे पाँचवीं शूष्मप्रभापृथ्वी में पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा के नारक असंख्यातगुणे हैं। उनसे उसी पाँचवीं नरकपृथ्वी की दक्षिणदिशा में रहने वाले नारक असंख्यातगुणे हैं। उनसे चौथी यंकप्रभापृथ्वी की पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा में रहने वाले नारक असंख्यातगुणे हैं, और उनसे उसी नरकपृथ्वी में दक्षिणदिशा के नारक असंख्यातगुणे हैं। उनसे तीसरी बालुकाप्रभा-पृथ्वी की पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा में रहने वाले नारक असंख्यातगुणे हैं, उनसे उसी नरकपृथ्वी में दक्षिणदिशा के नारक असंख्यातगुणे हैं। उनसे दूसरी शक्तिराप्रभापृथ्वी की पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा के नारक असंख्यातगुणे हैं। उनसे उसी नरकपृथ्वी की दक्षिण-दिशा में रहने वाले नारक असंख्यातगुणे हैं। उनसे पहली रत्नप्रभा-नरकपृथ्वी की पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा में रहने वाले नारक असंख्यातगुणे हैं और उनसे उसी रत्नप्रभा-नरकपृथ्वी में दक्षिण-दिशावर्ती नारक असंख्यातगुणे हैं।<sup>१</sup>

जिस नरक के जीव जिनसे असंख्यातगुणे होते हैं, उनके असंख्यातवें भाग वे (उस नरक के जीव) होते हैं। जैसे कि तीसरे नरक के जीवों से दूसरे नरक के जीव असंख्यातगुणे हैं, अतः तीसरे नरक के जीव दूसरे नरक के जीवों से असंख्यातवें भागप्रमाणे हैं। इसी से रत्नप्रभा के पूर्व, उत्तर और पश्चिम दिशा में रहने वाले नारकों के असंख्यातवें भाग शक्तिराप्रभापृथ्वी के नारक हैं। जब ऐसा है, तब पहले नरक के सभी नारकों के असंख्यातवें भाग शक्तिराप्रभापृथ्वी के नारक होगे ही।

<sup>१</sup> इससे सम्बन्धित आगमधार परिशिष्ट में देखिये।

इसी प्रकार अन्य अधोवर्ती नरकपृथिव्यों के लिये भी समझना चाहिये ।

गाथा के अन्त में विद्यमान 'य—च' शब्द अनुकूल अर्थ का सूचक होने से यह जानना चाहिये कि पहली रत्नप्रभापृथ्यी के नारकों की जो सात राजू प्रमाण संख्या धनीकृत लोक की एक प्रादेशिकी असंख्याती सूचिश्रेणि प्रमाण संख्या कही गई है, उतनी ही संख्या भवनपति देवों की भी है ।

इस प्रकार हे नारकों द्वारा उत्तराति देवों की संख्या बतलाने के बाद अब व्यंतर देवों का प्रमाण बतलाते हैं ।

### व्यंतर देवों का प्रमाण

संखेऽज्ञोयणाणं सूडपएसेहि भाइओ पयरो ।

वंतरसुरेहि हीरइ एवं एकेककभेण ॥१४॥

शब्दार्थ—संखेऽज्ञ—संख्याता, ज्ञोयणाण—योजनप्रमाण, सूडपएसेहि—सूचिश्रेणों के द्वारा, भाइओ—भाजित, पयरो—प्रतर, वंतरसुरेहि—व्यंतर देवों के द्वारा, हीरइ—अपहृत किया जाता है, एवं—इस प्रकार, एकेककभेण—प्रत्येक व्यंतरनिकाय के लिये ।

गाथार्थ—संख्याता योजनप्रमाण सूचिश्रेणि के आकाशप्रदेश द्वारा भाजित प्रतर व्यंतर देवों द्वारा अपहृत किया जाता है ।

इसी प्रकार प्रत्येक व्यंतरनिकाय के लिये समझना चाहिये ।

विशेषार्थ—गाथा में व्यंतर देवों की संख्या बतलाने के लिये कहा है कि संख्याता योजनप्रमाण सूचिश्रेणि में रहे हुए आकाशप्रदेशों द्वारा एक प्रतर के आकाशप्रदेशों को भाजित करने पर जो प्रमाण आता है, उतने व्यंतर देव हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि संख्याता योजनप्रमाण सूचिश्रेणि जैसे एक प्रतर के जितने खण्ड होते हैं, उतने व्यंतर देव हैं । अथवा दूसरे प्रकार से ऐसा भी कहा जा सकता है कि संख्याता योजनप्रमाण सूचिश्रेणि जैसे प्रतर के एक-एक खण्ड को प्रत्येक व्यंतर एक साथ ग्रहण करे तो वे समस्त व्यंतर देव एक ही समय में उस सम्पूर्ण प्रतर को ग्रहण कर सकते हैं ।

इसी प्रकार प्रत्येक व्यंतरनिकाय के प्रमाण के लिये भी समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि जिस तरह समस्त व्यंतर देवों का प्रमाण बतलाया है, उसी प्रकार एक-एक व्यंतरनिकाय का प्रमाण समझ लेना चाहिये। किन्तु ऐसा करने पर भी समस्त व्यंतर देवों के समूह की प्रमाणभूत संख्या के साथ विरोध नहीं आता है। क्योंकि प्रतर के आकाशप्रदेशों को साक्षित नहीं करने वाले योजनप्रमाण सूचिश्रेणि के आकाशप्रदेश लेने का जो कहा है, वह संख्याता छोटा-बड़ा लेना चाहिये। जहाँ एक-एक व्यंतर की संख्या निकालनी ही, वही तो बड़े संख्याता योजनप्रमाण सूचिश्रेणि के आकाशप्रदेशों द्वारा प्रतर के आकाशप्रदेशों को विभाजित करना चाहिये, जिससे उत्तर की संख्या छोटी आये और यदि सबसमूह की संख्या निकालनी ही, वहाँ छोटे संख्याता योजनप्रमाण सूचिश्रेणि के आकाशप्रदेशों द्वारा प्रतर के आकाशप्रदेश विभाजित करना चाहिये, जिससे समस्त व्यंतरों के कुल जोड़ जितनी संख्या प्राप्त हो।<sup>१</sup>

इस प्रकार से व्यंतर देवों का प्रमाण जानना चाहिये। अब योतिष्ठक देवों का प्रमाण बतलाते हैं।

### योतिष्ठक देवों का प्रमाण

छापशब्दोसंयंगुल सूहपएसि भाइओ पयरो।

जोइसिएहि हीरइ सट्ठाणे त्थीय संख्युणा ॥१५॥

१ अनुयोगद्वार तथा प्रजायना सुव में व्यंतर देवों की संख्या इस प्रकार बतलाई है—कुछ न्यून संख्याता सी योजन सूचिश्रेणि के प्रदेशों का वर्ण करें, उसमें कुल जितने प्रदेश आयें, उतने प्रदेशप्रमाण घनीकृत लोक के एक प्रतर के जितने चाहे हों, उतने कुल व्यंतर हैं।

गोमटसार जीवकाण्ड गाया १६० में व्यंतर देवों का प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—

लीन सी योजन के वर्ग का जगत्प्रतर में भाग देने से जो लब्ध आये, उतना व्यंतर देवों का प्रमाण है।

**शारदार्थ—छप्पनबोसदंगुल—** दो सौ छप्पन अंगुल प्रमाण, सूचिप्रदेश—  
सूचिप्रदेश द्वारा, जाइजो—भाजित, पयरो—प्रतर, जोइसिएहि—ज्योतिषिक  
देवों द्वारा, हीरह—अपहृत किया जाता है, सहारे—स्वस्थान में, स्थीय—  
स्थिर्या (देवियाँ), संख्यात्मक—संख्यात्मगुणी ।

**गाथार्थ—**दो सौ छप्पन अंगुलप्रमाण सूचिप्रदेश द्वारा विभाजित  
प्रतर ज्योतिषिक देवों द्वारा अपहृत किया जाता है । स्वस्थान में  
देवियाँ संख्यात्मगुणी हैं ।

**विशेषार्थ—**ज्योतिषिक देवों का प्रमाण बताने के लिये गाथा में  
कहा है कि दो सौ छप्पन अंगुलप्रमाण सूचिश्रेणि में रहे हुए आकाश-  
प्रदेशों द्वारा प्रतर के आकाशप्रदेशों को विभाजित करने पर जो प्राप्त  
हो, उनमें ज्योतिषिक देव हैं ।<sup>१</sup> अथवा दो सौ छप्पन अंगुलप्रमाण सूचि-  
श्रेणि जितने प्रतर के जितने खण्ड हों, उनमें ज्योतिषिक देव हैं । अथवा  
दो सौ छप्पन अंगुलप्रमाण सूचिश्रेणि जैसे एक-एक खण्ड को एक  
साथ समस्त ज्योतिषिक देव अपहृत करें तो एक ही समय में वे समस्त  
देव सम्पूर्ण प्रतर का अपहृत करते हैं । इन तीनों का लात्यर्य एक ही  
है तथा जारों देवनिकाय में अपने-अपने निकाय के देवों की अपेक्षा  
देवियाँ संख्यात्मगुणी हैं । इसका विशेष स्पष्टीकरण आगे किया  
जायेगा ।

१ यहाँ बताई गई ज्योतिषिक देवों की संख्या से अनुयोगहार और प्रज्ञापना  
सूत्र में बताई गई संख्या भिन्न है । बहाँ कहा है—दो सौ छप्पन अंगुल  
प्रमाण सूचिश्रेणि में जितने आकाशप्रदेश हों, उनका वर्ग करने पर जो  
संख्या प्राप्त हो, उनमें प्रदेशप्रमाण घटीकृत लोक के एक प्रतर के जितने  
खण्ड हों, उनमें कुल ज्योतिषिक देव हैं ।

गोप्यमठसार जीवकोड गाथा १६० में ज्योतिषिक देवों का प्रमाण यह  
बताया है—

दो सौ छप्पन प्रमाणांगुलों के वर्ग का जगत्प्रकर में भाग देने से जो लब्ध  
जाये, उनना ज्योतिषिक देवों का प्रमाण है ।

अब तीन देवनिकायों से शेष रहे वैमानिक देवों का प्रमाण बतलाने हैं।

### वैमानिक देवों का प्रमाण

असंख्येदिखपएसतुल्लया पदमदुइयक्ष्येसु ।

सेहि असंख्यसमा उवरि तु जहोसरं तह य ॥१६॥

**शास्त्रार्थ—** असंख्येदिखपएसतुल्लया—असंख्यत श्रेणि के आकाशप्रदेश तुल्य, पदमदुइय—प्रथम और द्वितीय, क्षयेसु—कल्पों के, सेहि—ये यि, असंख्यसमा—असंख्यात्में भागप्रमाण, उवरि—ऊपर के, तु—और, जहोसरं—गथोतर के कम से, तह—उच्चावचार से, क्षेत्रसे, पूर्व-पूर्व से, य—और।

**गाथार्थ** असंख्याती श्रेणि के आकाशप्रदेश तुल्य प्रथम और द्वितीय कल्प (देवलोक) के देव हैं तथा यथोसर के क्र० ५ से ऊपर के देवलोक के देव पूर्व-पूर्व से श्रेणि के असंख्यात्में भागप्रमाण हैं।

**विशेषार्थ—** गाथा में पहले और दूसरे कल्प के वैमानिक देवों का प्रमाण तो निश्चित रूप में बतलाया है और शेष उत्तरवर्ती देवों के प्रमाण के लिये सामान्य संकेत कर दिया है कि पूर्व की अपेक्षा उत्तरवर्ती वैमानिक देव श्रेणि के असंख्यात्में भागप्रमाण हैं, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अनीकुत लोक की सात राजुप्रमाण लम्बी और एक प्रदेश मोटी—चौड़ी असंख्याती सूचिश्रेणि में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने पहले और दूसरे—सौधर्म और ईशान देवलोक में देव हैं तथा ऊपर के सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लालक, महाशुक्र और सहस्रार, इनमें से

१ गोम्यटसार जीवकांड भाषा १६१ में सौधर्म द्विक—सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देवों का प्रमाण इस प्रकार बतलाया है—

जगत्-य-णि के साथ चनांगुल के तृतीय वर्गमूल का गुणा करने पर सौधर्म और ईशान स्वर्ग के देवों का प्रमाण प्राप्त होता है।

प्रत्येक देवलोक में सूचिश्रेणि के असंख्यातरे भाग में विद्यमान आकाश-प्रदेश प्रमाण देव हैं।

परन्तु यहीं इतना विशेष समझना चाहिये कि उत्तरोत्तर सूचिश्रेणि का असंख्यातरा भाग अनुक्रम से हीन-हीन लेने से उपरि-उपरिवर्ती देवलोक के देव पूर्व-पूर्ववर्ती देवलोक के देवों की अपेक्षा असंख्यातरे भाग हैं।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि सनत्कुमारकल्प के जितने देव हैं, उसकी अपेक्षा माहेन्द्रकल्प में देव असंख्यातरे भाग हैं और माहेन्द्र देवलोक के देवों से सनत्कुमार के देव असंख्यातगुणे हैं। माहेन्द्र देवलोक के देवों की अपेक्षा इहां देवलोक के देव असंख्यातरे भाग हैं। इसी परह उत्तरोत्तर लातक, महाशुक और सहस्रार देवलोक के देवों के लिये भी जान लेना चाहिये। इसके अलावा—

गाथा के अन्त में 'तह् य' पद में आगत 'य—च' शब्द अनुकूलस्तु का समुच्चय करने वाला होने से आनत, प्राणत, आरण और अच्छुत देवलोक में तथा अधः, मध्यम और उपरितत्त्वीन ग्रन्थेयक और अनुत्तर विमानों में से प्रत्येक में क्षेत्रपल्लवोपम के असंख्यातरे भागवर्ती आकाशप्रदेश प्रमाण देव आनना चाहिए। किन्तु इतना विशेष है कि पूर्व-पूर्व देवों की अपेक्षा उत्तर-उत्तर के देव संख्यातगुणहीन हैं।'

१ (अ) देवों आदि में हीनाधिकतादर्शक प्रजापति सूत्रगत महादंडक का पाठ परिशिष्ट में देखियें।

(आ) गोमटसार जीवकांड, गाथा १६१, १६२, १६३ में वैभानिक देवों की संख्या इस प्रकार बतलाई है।

जगत्-श्रेणि के साथ घनामूल के तृतीय वर्णमूल का गुणा करने पर सौषमंडिक के देवों का प्रमाण प्राप्त होता है तथा इसके आगे जगत्-श्रेणि के च्यारहवें, नौवें, सातवें, पाँचवें, और चर्यमूल से आजित जगत्-श्रेणि प्रमाण तीसरे कल्प से लेकर बारहवें कल्प तक देवों का प्रमाण है।

(क्रमशः)

इस प्रकार से वैमालिक देवों का प्रमाण जानना चाहिये। अब पहले जो सामान्य से रत्नप्रभायुक्ती के नारकों की तथा भवनपति और सौधर्म देवलोक के देवों की संख्या असंख्यात् सूचि श्रेणि प्रमाण बताई है, उसमें असंख्यात् का प्रमाण नहीं कहा है, जिससे यह समझ में नहीं आता कि इन तीनों में कौन कम और कौन अधिक है। इसलिये यहाँ तीनों की असंख्यातरूप संख्या का निर्णय करने के लिये कहते हैं—

**सेहीएककपएसरहय - सूईणमंगुलप्पमिर्य ।**

**घम्माए भवणसोहम्मयाणमान् इम् होइ ॥१७॥**

**छप्पन्नदोसयपुल भूओ भूओ विभवन मूलतिर्य ।**

**मुणिया अहुसरत्या रासीओ कमेण सूहओ ॥१८॥**

**शब्दार्थ—सेहीएककपएसरहय—**श्रेणि के एक-एक आकासप्रदेश द्वारा रचित, सूईणमंगुलप्पमिर्य—सूचि के अंगुलप्रमाण, घम्माए—षष्ठि कर, भवणसोहम्मयाण—भवनपति और सौधर्मकल्प का, इम्—प्रमाण, इम्—यह, होइ—होता है।

**छप्पन्नदोसयंगुल—**अंगुलमात्र क्षेत्र के दो सौ छप्पन्न प्रदेशों का, भूओ-भूओ—बारम्बार, विग्रह—वर्गमूल लेकर, मूलतिर्य—तीन मूल, मुणिया—मुण्डाकार करने पर, अहुसरत्या—पथाकम से उत्तर में स्थित, रासीओ—राशियाँ, कमेण—कम से, सूहओ—सूचिश्रेणियाँ।

आनन्दारि में देवों का प्रमाण पल्य के असंख्यातर्वे भाग प्रमाण है। अर्थात् आनन्द, प्राणत, आरण, अच्युत, भव श्रेष्ठेयक, भव असुदिश, विजय, वैजयन्त, अथन्त, अपराजित, इन छात्रीस कल्पों में से प्रत्येक के देवों का प्रमाण पल्य के असंख्यातर्वे भाग है।

यह प्रमाण सामान्यतः जानना चाहिये, किन्तु विशेषरूप में उल्लेख आरणादि में संख्यात् मुण्ड-संख्यातमुण्डाहीन है।

मानुषियों के प्रमाण से तिगुना या सत्तगुना सर्वार्थसिद्धि के देवों का प्रमाण है।

**गाथार्थ**—श्रेणि के एक-एक आकाशप्रदेश द्वारा रचित सूचि के अंगुलप्रमाण क्षेत्र में से प्राप्त राशि घर्मा, भवनपति और सौधर्म देवलीक के जीवों का प्रमाण होता है।

(असत्कल्पना से) अंगुलमात्र क्षेत्रवर्ती दो सौ छप्पन आकाशप्रदेशों का बारम्बार वर्गमूल निकाल तीन मूल लेकर यथाक्रम से उत्तर-उत्तर में स्थित राशियों का दुर्वा-पूर्व राशि से गुणाकार करने पर क्रम से प्राप्त संख्या के बराबर उतनी-उतनी सूचिश्रेणि प्रमाण घर्मा (रत्नप्रभा) पृथ्वी के नारकों, भवनपति और सौधर्मकल्प के देवों का प्रमाण है।

**विशेषार्थ**—पहली नरकपृथ्वी के नारकों तथा भवनपति और सौधर्मकल्प के देवों के प्रमाण का निर्णय करने के लिये पहले जितनी श्रेणियाँ कही हैं उतने श्रेणि-व्यतिरिक्त आकाशप्रदेशों को ग्रहण करके उनकी सूचिश्रेणि करना और उनमें से सूचिश्रेणि में रहे हुए आकाशप्रदेशों का वर्गमूल निकालने की पद्धति से मूल निकालकर उनमें से तीन मूल लेकर उन्हें तथा अंगुलमात्र सूचिश्रेणि के प्रदेशों की संख्या को अनुक्रम से स्थापित करने के बाद अंगुलमात्र सूचिश्रेणि की प्रदेश-संख्या का मूल के साथ गुणा करने पर आकाशप्रदेश की जितनी संख्या आये, उतनी संख्याप्रमाण समस्त सूचिश्रेणि के जितने आकाशप्रदेश हों, उतनी रत्नप्रभापृथ्वी के नारक जीवों की संख्या है।

पहले और दूसरे मूल का गुणाकार करने पर जितने आकाशप्रदेश आयें, उतनी समस्त सूचिश्रेणि में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण भवनपति देवों की संख्या का प्रमाण है तथा दूसरे और तीसरे मूल का गुणाकार करने पर जितने आकाशप्रदेश प्राप्त हों, उतनी समस्त सूचिश्रेणिप्रमाण सौधर्मकल्प के देवों का प्रमाण है।

यद्यपि अंगुलप्रमाण सूचिश्रेणि में असंख्यात आकाशप्रदेश होते हैं, लेकिन असत्कल्पना से दो सौ छप्पन मान लिये जायें। उनका वर्गमूल निकालने की रीति से तीन बार मूल निकालना। दो सौ छप्पन

का पहला मूल सोलह, दूसरा मूल चार और तीसरा मूल दो है। अब इन तीनों मूल और दो सौ छप्पन इन चारों श्रेणियों को बड़ी-छोटी संख्या के क्रम से इस प्रकार रखें—२५६, १६, ४, २ और उसके बाद पूर्व से उत्तर की एक-एक राशि के साथ गुणाकार करें। जैसे कि दो सौ छप्पन को पहले मूल सोलह के साथ गुणा करने पर  $256 \times 16 = 4096$  (चार हजार छियानवे) होते हैं। इतनी रत्नप्रभाषृष्टि के नारकों की संख्या के लिये श्रेणियाँ समझना चाहिये। अर्थात् चार हजार छियानवे सूचिश्रेणि में जितने आकाशप्रदेश हों, उतने ही रत्नप्रभा-षृष्टि के नारक हैं।

दूसरे बांधुमूल चार के साथ पहले मूल सोलह का गुणाकार करना और गुणा करने पर  $16 \times 4 = 64$  (चौसठ) आये। इतनी सूचि-श्रेणियों में रहे हुए आकाशप्रदेश भवनपति देवों का प्रमाण है।<sup>१</sup>

तीसरे मूल दो के साथ दूसरे मूल चार का गुणा करने पर  $4 \times 2 = 8$  (आठ) आये। उतनी सूचिश्रेणि में रहे हुए आकाशप्रदेश-प्रमाण सौधर्म देवलोक के देव हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त कथन से यह सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि कौन किस से अधिक और कौन किससे कम है।

अब दूसरे प्रकार से भी रत्नप्रभा के नारकादि के विषय में श्रेणि का प्रमाण बतलाते हैं—

अहंगुलध्येता समूलगुणिया उ नेरइयमूर्दि ।

पहमवुहयापयाहं समूलगुणियाहं इयराणं ॥१६॥

**शब्दार्थ**—अहं—अहं—अथवा, अंगुलप्रसाद—अंगुण प्रमाण श्रेणिकों का, समूलगुणिया—अपने मूल के साथ गुणा करने पर, उ—और, नेरइयमूर्दि—नारकों की सूचिश्रेणि, पहम—हुड्डधर्मयाहं—प्रथम और हितीय गति का, समूल-

१ नारकों और भवनपति देवों की संख्या के लिये अनुयोगदार सूत्र आदि प्रश्नों के निर्देश को परिशिष्ट में देखिये।

**शुणियाद्वय—**अपने-अपने मूल से गुणा करने पर, इवरार्थ—दूसरों के (भवनपति, सीधर्म कर्त्त्व के देवों के)।

**गाथार्थ—**अथवा अंगुलप्रमाण क्षेत्रवर्तीं प्रदेशों का अपने-अपने मूल के साथ गुणा करने पर रत्नप्रभा के नारकों की सूचिश्रेणि का प्राप्त होता है जीव प्रश्न एवं तिलीय वह का अपने-अपने मूल से गुणा करने पर प्राप्त सूचिश्रेणियाँ क्रमशः दूसरों—भवनपति और सीधर्मकल्प के देवों—के प्रमाणरूप में समझना चाहिये।

**विशेषार्थ—**यद्यपि पूर्व की गाथा में रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों, भवनपति और सीधर्मकल्प के देवों के प्रमाण को जानने के सूक्ष का उल्लेख कर दिया है। लेकिन इस गाथा में पुनः उन-उन के प्रमाण की जानने की दूसरी विधि का उल्लेख किया है।

पूर्व की गाथा में अंगुलप्रमाण क्षेत्रवर्तीं प्रदेशाराशि की दो सौ छत्त्वन की कल्पना की थी। किन्तु यहाँ उस प्रकार नहीं करके वास्तव में जितनी संख्या होती है, उतनी की विवक्षा की है। वह इस प्रकार समझना चाहिये—एक अंगुलप्रमाण सूचिश्रेणि में रहे हुए आकाश-प्रदेशों का अपने मूल के साथ गुणाकार करने पर जो संख्या प्राप्त हो, उतनी सूचिश्रेणियों में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण रत्नप्रभापृथ्वी के नारक हैं।

अंगुलप्रमाण क्षेत्र में रहे हुए आकाशप्रदेश के पहले मूल का अपने मूल के साथ गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, उतनी सूचिश्रेणियाँ भवनपति देवों का प्रमाण निर्णय करने के लिये जानना चाहिये। अर्थात् इतनी सूचिश्रेणियों में जितने आकाशप्रदेश हों, उतने भवनपति देव जानना चाहिये।

अंगुलप्रमाण क्षेत्र में रहे हुए आकाशप्रदेशों के दूसरे मूल का अपने मूल के साथ गुणा करने पर जो प्रदेशाराशि प्राप्त हो, उतनी सूचिश्रेणियों में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण सीधर्म देवलोक के देव हैं।

इस प्रकार हे नदरक और देहों का प्रमाण बहुत ही के दाढ़ हन्तर-  
वैक्रियशरीर वाले तिर्यक पंचेन्द्रिय जीवों का प्रमाण बतलाते हैं।

**उत्तरवैक्रियशरीरी पंचेन्द्रिय तिर्यकों का प्रमाण**

अंगुलमूलासंखियभागप्पमिया उ होति सेहीओ ।

उत्तरविडिवियार्थं तिरियता य सन्धिपञ्चजार्थ ॥२०॥

**शास्त्रार्थ—**अंगुलमूलासंखियभागप्पमिया—अंगुलमात्र आकाशप्रदेश के मूल के असंख्यात्में भाग्यत प्रदेशराशि प्रमाण, होति—हैं, सेहीको—श्रेणियो, उत्तरविडिवियार्थ—उत्तरवैक्रियशरीर वाले, तिरियता—तिर्यकों की, य—जीर, सन्धिपञ्चजार्थ—संज्ञि पर्याप्तिकों की ।

**गाथार्थ—**अंगुलमात्र आकाशप्रदेश के मूल के असंख्यात्में भाग्य-  
त प्रदेशराशि प्रमाण सूचिश्रेणियो उत्तरवैक्रियशरीर वाले  
संज्ञो पर्याप्त तिर्यकों की संख्या है ।

**विशेषार्थ—**एक अंगुल प्रमाण क्षेत्रवर्ती आकाशप्रदेश का जो प्रथम वर्गमूल उसके असंख्यात्में भाग में जितने आकाशप्रदेश हों, उतनी उत्तरवैक्रियलविधसम्पन्न पर्याप्त संज्ञि पंचेन्द्रिय तिर्यकों की संख्या जानना चाहिये ।<sup>१</sup>

उत्तरवैक्रियशरीर-लविधसम्पन्न पर्याप्त संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यक  
असंख्यात द्वीप-समुद्रों में रहने वाले मत्स्य और हृस आदि जीव जानना  
चाहिये ।

इस प्रकार हे तीन गति के संज्ञी जीवों की संख्या बतलाने के  
बाद अब मनुष्यों का प्रमाण बतलाते हैं ।

**मनुष्यों का प्रमाण**

उक्कोसप्त भण्या सेही रुद्धाहिया अवहरति ।

तइयमूलाहएहि अंगुलमूलप्पएसेहि ॥२१॥

**शास्त्रार्थ—**उक्कोसप्त—उक्कुष्टप्पद में, भण्यह—भनुष्य, सेही—बैंगि,  
रुद्धाहिया—एक रुपाधिक, अवहरति—अपहार हो सकता है, तइयमूलाहएहि—

१ एतद्विषयक प्रश्नापनामूल का पठ परिशिष्ट में देखिये ।

तीसरे वर्गमूल द्वारा गुणित, अंगुलपूत्रपृष्ठएसेहि—अंगुलप्रमाण शेष के प्रदेशों के पहले मूल के प्रदेशों से ।

**गायार्थ**—उत्कृष्ट पद में मनुष्य तीसरे वर्गमूल द्वारा गुणित अंगुलप्रमाण शेष में विद्यमान प्रदेशों के पहले मूल के प्रदेशों से एक रूप अधिक हों तो सम्पूर्ण सूचिश्चेणि का अपहार हो सकता है ।

**विशेषार्थ**—यहाँ उत्कृष्टपद में मनुष्यों का प्रमाण बताया है । मनुष्य दो प्रकार के हैं—१ गर्भज, २ संभूच्छिम । अन्तमुहूर्त की आयु वाले संभूच्छिम तो अपर्याप्त-अवस्था में ही मरण को प्राप्त होते हैं तथा पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से गर्भज दो प्रकार के हैं । गर्भज पर्याप्त मनुष्य, ध्रुव होने से सदैव होते हैं एवं वे संख्यात ही हैं । उनकी जन्मन्य संख्या भी पांचवें और छठे वर्ग का गुणाकार करने पर प्राप्त राशिप्रमाण हैं ।

**प्रश्न**—वर्ग किसे कहते हैं ? पांचवें और छठे वर्ग का स्वरूप क्या है और पांचवें और छठे वर्ग का गुणाकार करने पर प्राप्त संख्या कितनी होती है ?

**उत्तर**—किसी एक विविधत राशि का विविधत राशि के साथ गुणा करने पर प्राप्त प्रमाण को वर्ग कहते हैं । एक का एक से गुणा करने पर भी बुद्धिरहित होने से उसे वर्ग में नहीं गिना जाता है । वर्ग का प्रारम्भ दो की संख्या से होता है । इसलिये दो को दो से गुणा करने पर दो का वर्ग चार होता है, यह पहला वर्ग है । चार का वर्ग  $4 \times 4 = 16$  (सोलह), यह दूसरा वर्ग, सोलह का वर्ग  $16 \times 16 = 256$  (दो सौ छत्पन्न), यह तीसरा वर्ग, दो सौ छत्पन्न का वर्ग  $256 \times 256 = 65536$  (पैंसठ हजार पाँच सौ छत्तीस), यह चौथा वर्ग, पैंसठ हजार पाँच सौ छत्तीस का वर्ग  $65536 \times 65536 = 4294967296$  (चार बरब उनतीस करोड़ उनचास लाख, सङ्कर हजार दो सौ छियात्तर्व) यह पांचवां वर्ग और इस पांचवें वर्ग की

संख्या से उसी संख्या का गुणा करने पर एक लाख चौरासी हजार चार सौ सड़सठ कोडाकोड, चवालीस लाख सात हजार तीन सौ सतर करोड़ पंचामवं लाख, इक्यावन हजार, छह सौ सोलह (१८४६७४४०७३७६५५१८१६) होता है, यह छठा अंक है।

इन छह अंकों में से छठे अंक का पांचवें अंक के साथ गुणाकार करने पर जितनी प्रदेशराशि हो, उतने अधन्य से गर्भज पर्याप्त मनुष्य होते हैं।

पांचवें और छठे अंक के गुणाकार के उनसीस अंक होते हैं ।<sup>१</sup> जो इस प्रकार है—७६२२८१६२५१४२४३३७५६३५४३०३३६ ।

१ गर्भज मनुष्यों की संख्या के बोतक ये उनसीस अंक अक्षरों के संबंध द्वारा गोम्बदसार जीवकांड, गाथा १५८ में इस प्रकार बताये हैं—

सत्सन्निनमधुगदिमलधूमसिलामाविचारभथमेह ।

तद्वरित्यस्मा होति हु माणुसयज्ज्ञसंखेका ॥

अर्थात् तकार से लेकर सकार पर्यंत अक्षर प्रमाण अंक पर्याप्त मनुष्यों की संख्या है ।

किस अक्षर से कौनसा अंक प्रहृण करना चाहिये, इसके लिये नियम-सिद्धि गाथा इयोगी है—

कटपयपुरस्थवर्णं वमवर्णं चाष्टकं पतेः शमशः ।

स्वरत्रनाशून्यं संख्यामात्रोपरिमात्रं त्याजयम् ॥

अर्थात् क से लेकर इन तक के नी अक्षरों से कमशः एक, दो, तीन आदि तक के नी अंक समझना चाहिये । इसी प्रकार ठ से लेकर नी अंक, ५ से लेकर पांच अंक, ९ से लेकर आठ अक्षरों से आठ अंक तथा स्वर, व, न से शून्य समझना चाहिये । गाथा और उपरिमात्राकर से कोई भी अंक प्रहृण नहीं करना चाहिये । अतः इस नियम और 'अंकों की विपरीत गति होती है' नियम के अनुसार गाथा में आहे हुए अक्षरों से पर्याप्त मनुष्यों की संख्या ७६२२८१६२५१४२४३३७५६३५४३०३३६ निकलती है ।

पूर्वीचार्यों ने इस संख्या को तीसरे यमलपद से ऊपर की ओर चौथे यमलपद से नीचे की संख्या कहा है।<sup>१</sup>

मनुष्यप्रमाण की हेतुभूत राशि को तीसरे यमल पद से ऊपर की कहने में कारण पांचवें और छठे वर्ग का गुणाकार है। पांचवीं और छठा वर्ग तीसरे यमल में तथा सातवीं और आठवीं वर्ग चौथे यमल में आता है। मनुष्यप्रमाण की हेतुभूत संख्या छठे वर्ग से अधिक है। क्योंकि वह संख्या छठे और पांचवें वर्ग के गुणाकार जितनी है, जो सातवें वर्ग से कम है। इसीलिये मनुष्यसंख्या की प्रमाणभूत राशि को तीसरे यमलपद से अधिक और चौथे यमलपद से कम कहा है।

अथवा पूर्वोक्त राशि के छियानवें छेदनक होते हैं। छेदनक यानि आधा-आधा करना। अर्थात् उनतीस अंकप्रमाण राशि को पहली बार आधा करें, दूसरी बार उसका आधा करें, तीसरी बार उसका आधा करें। इस प्रकार आधा-आधा छियानवें बार करें तो छियानवेंवाँ बार में एक का अंक आयेगा और इसी को इसके विपरीत रीति से कहें तो छियानवें बार स्थान को दुगुना करें, जैसे कि एक और एक दो, दो और दो चार, चार और चार आठ, इस तरह छियानवें बार दुगुना-दुगुना करने पर छियानवेंवाँ बार में उपर्युक्त राशि प्राप्त होती है।

प्रश्न—यहाँ छियानवें छेदनक क्यों होते हैं?

उत्तर—पहले वर्ग के दो छेदनक होते हैं—पहला छेदनक दो और दूसरा छेदनक एक। दूसरे वर्ग के चार छेदनक होते हैं। अर्थात् दूसरे वर्ग की संख्या के आधे-आधे भाग चार बार होते हैं। जैसे कि पहला छेदनक आठ, दूसरा छेदनक चार, तीसरा छेदनक दो और चौथा छेदनक एक। इसी रीति से तीसरे वर्ग के आठ छेदनक, चौथे वर्ग के

१ दोवित्तिवग्ना यमलपर्यालि भग्नह—हो-दो वर्ग के समूह को यमलपद कहते हैं। —अनुयोगद्वारचूणि

सीलह छेदनक, पांचवें वर्ग के बत्तीस छेदनक और छठे वर्ग के चौसठ छेदनक होते हैं। गर्भज मनुष्यों को संख्या पांचवे और छठे वर्ग के गुणाकार जिसनी होने से उस संख्या में पांचवे और छठे इन दोनों वर्गों के छेदनक आते हैं। पांचवें वर्ग के बत्तीस और छठे वर्ग के चौसठ छेदनक होने से दोनों का जोड़ करने पर छियानवै छेदनक पूर्वोत्तम राशि में होते हैं।

प्रश्न—यह कैसे जाना जा सकता है?

उत्तर—जिस-जिस वर्ग का जिस-जिस वर्ग के साथ गुणाकार करें और गुणाकार करने पर जो संख्या प्राप्त हो, उसमें दोनों वर्ग के छेदनक घटित होते हैं। जैसे कि पहले वर्ग को दूसरे वर्ग के साथ गुणा करने पर जो संख्या प्राप्त होती है, उसमें पहले वर्ग के दो और दूसरे के चार कुल छह छेदनक अंभव हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

पहले और दूसरे वर्ग का गुणाकार चौसठ होता है। उनका पहला छेदनक बत्तीस, दूसरा सीलह, तीसरा आठ, चौथा आर, पांचवीं दो और छठा एक, इस तरह छह छेदनक होते हैं। इसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिये। जिससे पांचवे और छठे वर्ग के गुणाकार में पांचवें वर्ग के बत्तीस और छठे वर्ग के चौसठ, दोनों मिलकर छियानवै छेदनक होते हैं।

गर्भज और संमूचितम अपर्याप्त जीव किसी समय होते हैं और

१ पर्याप्त मनुष्यों की उक्त जघन्य संख्यासम्बन्धी समझ कवन का सारांश यह है कि पर्याप्त और अपर्याप्त के बीच से गर्भज मनुष्य को प्रकार के हैं। उनमें से अपर्याप्त मनुष्य तो कभी होते हैं और कभी नहीं होते हैं। इसलिये जब के न हों तब भी जघन्य से पर्याप्त गर्भज मनुष्य पांचवें और छठे वर्ग के गुणाकार करने से प्राप्त संख्याप्रमाण अर्थात् २६ अंकप्रमाण है। अथवा तीसरे यमलपद से ऊपर और चौथे यमलपद से नीचे की संख्याप्रमाण हैं। अथवा एक की संख्या को अनुक्रम से छियानवै बार द्विगुण-द्विगुण करने पर जो संख्या प्राप्त हो, उतने हैं। —सम्पादक

किसी समय नहीं भी होते हैं। क्योंकि गर्भज अपर्याप्ति का जब्दन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त अन्तर है और संमूचितम् अपर्याप्ति का जब्दन्य एक समय और उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त अन्तर है। अपर्याप्ति अन्तमुहूर्त की आयु वाले होते हैं, जिससे अन्तमुहूर्त के बाद सभी निःशेष हो जाते हैं—नाम को प्राप्त होते हैं। यानि कुछ अधिक रथारह मुहूर्त गर्भज अपर्याप्ति और कुछ अधिक तेईस मुहूर्त संमूचितम् अपर्याप्ति नहीं होते हैं। इसीलिये कहा है कि गर्भज अपर्याप्ति मनुष्य और संमूचितम् मनुष्य किसी समय होते हैं और किसी समय नहीं होते हैं।

लेकिन जब गर्भज पर्याप्ति, अपर्याप्ति और संमूचितम् अपर्याप्ति, ये सब मिलकर अधिक-से-अधिक हों, तब उनका प्रमाण इस प्रकार जानना चाहिये—उत्कृष्ट पद में गर्भज और संमूचितम् मनुष्यों की सर्वोत्कृष्ट संख्या हो तब जितनी संख्या हो उससे (वास्तविक नहीं, लेकिन असल्कल्पना से) एक मनुष्य अधिक हो तो सूचिश्रेणि के एक अंगूल-प्रमाण क्षेत्र में रहे हुए आकाशप्रदेश के पहले मूल की तीसरे मूल के साथ गुणा करने पर जितने आकाशप्रदेश प्राप्त हों, उतने आकाश-प्रदेशों द्वारा भाग देने पर (असल्कल्पना से सूचिश्रेणि के एक अंगूल-क्षेत्र के दो सी छण्डन आकाशप्रदेश कल्पना करें, तो उनका पहला मूल सोलह, दूसरा मूल चार और तीसरा मूल दो। पहले मूल की तीसरे मूल से गुणा करने पर बत्तीस आते हैं, उतने आकाश प्रदेश द्वारा भाग देने पर) सम्पूर्ण एक सूचिश्रेणि का अपहार होता है।

उक्त कथन का तात्पर्य यह हुआ कि सूचिश्रेणि के अंगूलमात्र क्षेत्र में जितने आकाशप्रदेश हैं, उनके पहले वर्गमूल की तीसरे वर्गमूल द्वारा गुणा करने पर जितने आकाशप्रदेश हों, उतने-उतने प्रमाण वाले एक-एक छण्ड को पर्याप्ति, अपर्याप्ति गर्भज और संमूचितम् एक-एक मनुष्य ग्रहण करें और कुल मनुष्यों की जो संख्या है, उससे एक अधिक हो तो सम्पूर्ण श्रेणि को एक ही समय में अपहार किया जा सकता है। परन्तु एक मनुष्य कम है, जिससे एक छण्ड छढ़ता है।

इसी बात को दूसरे प्रकार से इस तरह कहा जा सकता है कि

सूचिश्रेणि के अंगुलमात्र क्षेत्र में विद्यमान आकाशप्रदेश के पहले वर्गमूल को तीसरे वर्गमूल के साथ गुणा करने पर जितने आकाश-प्रदेश आये, उसने आकाशप्रदेशों के द्वारा समस्त सूचिश्रेणि के आकाशप्रदेशों को भाजित करने पर जो संख्या प्राप्त हो उसमें से एक रूप कम करने पर समूचिलम और गर्भज मनुष्यों की सर्वोत्कृष्ट संख्या प्राप्त होती है।<sup>१</sup>

इस प्रकार से अपग्रित सूक्ष्म एकेन्द्रियादि चौदह जीवभेदों का प्रमाण आनना चाहिये। अब गुणस्थान की अपेक्षा चौदह जीवभेदों का प्रमाण बतलाते हैं।

### गुणस्थानाधेका जीवों का प्रमाण

सासायणाइचउरो होति असंखा अणतया मिच्छा ।

कोटिसहस्रपुहुत्तं प्रमत्तहयरे उ शोवयरा ॥२२॥

**शास्त्रार्थ**—सासायणाइ—सासादनसम्यग्हटि आदि, उत्तरे—ज्ञार गुणस्थान वाले, होते हैं—होते हैं, असंखा—असंख्यात्, अणतया—अनन्त, मिच्छा—मिथ्याहृष्टि, कोटिसहस्रपुहुत्तं—कोटिसहस्रपृथक्त्व, प्रमत्ते—प्रमत्तसंश्लेष्ट, इयरे—इतर—अप्रमत्तसंयत, उ—और, शोवयरा—स्तोकत्तर—उत्तरे बल्ल।

**शास्त्रार्थ**—सासादनादि ज्ञार गुणस्थान वाले जीव असंख्यात हैं और मिथ्याहृष्टि अनन्त हैं। प्रमत्तसंयत जीव कोटिसहस्रपृथक्त्व और इतर अर्थात् अप्रमत्तसंयत जीव उनसे अल्प—स्तोकत्तर हैं।

**विशेषार्थ**—गाया में मिथ्याहृष्टि से लेकर अप्रमत्तसंयत गुणस्थान पर्यन्त—आदि के सात गुणस्थानवर्ती जीवों को संख्या का प्रमाण बतलाया है।

‘सासायणाइचउरो असंखा’ अर्थात् सासादनसम्यग्हटि, मिथ्यहृष्टि, अविरतसम्यग्हटि और देशविरत—इन दूसरे से लेकर पाँचवें

१ एतदविषयक अनुयोगद्वारकूणि का पाठ परिशिष्ट में देखिये।

तक चार गुणस्थानों में से प्रत्येक में वर्तमान जीव असंख्यात्-असंख्यात् हैं। क्योंकि इन गुणस्थानवर्ती जीव अधिक-से-अधिक क्षेत्रपल्योपम के असंख्यात् भाग में विद्यमान प्रदेशराशि प्रमाण हैं तथा मिथ्याहजित जीव अनन्त हैं—‘अण्टतया मिच्छा’। क्योंकि वे अनन्त लोकाकाष्ठप्रदेश प्रमाण हैं।

इस प्रकार से आदि के पांच गुणस्थानवर्ती जीवों का प्रमाण बतलाने के बाद गाथा के उत्तराधीन में छठे, सातवें—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानवर्ती जीवों का प्रमाण बतलाते हैं कि—

प्रमत्तसंयतगुणस्थानवर्ती जीव अधन्य से भी कोटिसहस्रपृथक्त्व-प्रमाण और उत्कृष्ट से भी कोटिसहस्रपृथक्त्वप्रमाण<sup>१</sup> जानने चाहिये—‘कोडिसहस्रपुद्गतं पभत्त’ तथा अप्रमत्तसंयत मुनि प्रमत्तसंयत से अत्यन्त हैं। सारांश यह हुआ कि पन्द्रह कर्मभूमि में प्रमत्तसंयत मुनि अधन्य से दो हजार करोड़ से अधिक होते हैं और उत्कृष्ट से नी हजार करोड़ होते हैं तथा अप्रमत्तसंयत मुनि प्रमत्तसंयत से अत्यन्त अल्प हैं।

इस प्रकार से प्रथम सात गुणस्थानवर्ती जीवों का प्रमाण बतलाने के बाद अब दो गाथाओं द्वारा शेष आठवें से लेकर औद्य॑हकें तक सात गुणस्थानों में से प्रत्येक में विद्यमान जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाते हैं—

एगाइ चउपण्णा समर्गं उद्दसामग्ना य उवसंता ।

अङ्गं पदुच्च रेढीए होति सब्बेचि संखेज्जा ॥२३॥

सवया खीणाजोगी एगाइ ज्ञाव होति अट्ठशर्य ।

अङ्गाए लयपुद्गतं कोडिपुद्गतं सजोगीओ ॥२४॥

**शास्त्राधीन**—एगाइ—एक से लेकर, चउपण्णा—चउवन, समर्ग—एक साथ,

१ इह पृथक्त्वं द्विप्रभृत्यानवभ्यः इति सामयिकी रूप्ता ।

शो से नी तक की संख्या को पृथक्त्व कहते हैं, यह समय (जैन-सिद्धान्त) का पारिभाषिक शब्द है। —पंचसंग्रह भलयगिरिटीका, पृ. ६४

**उपशमणा**—उपशमक, य—और, उपशमणा—उपशान्तमोही, अद्व पद्मस्त—काल की अपेक्षा, लेडीए—धैर्य के, होंति—होते हैं, सम्बेदि—सभी, संखेभजा—संस्कार ।

**स्वयमा**—कालक, श्रीणमोही—क्षीणमोही और अद्योगि, एमाइ—एक से लेकर, जाव—यावत्—तक, होंति—होते हैं, अद्वस्तव—एक सौ आठ, अद्वाए—काल में, सम्पुद्धस्त—शतपृथक्त्व, कोटिपृथक्त्व, कोटिपृथक्त्व, समोगीजी—समोगिकेवली ।

**गाथार्थ**—उपशमक और उपशान्तमोही जीव एक साथ एक से लेकर चउबन पर्यन्त होते हैं और श्रेणि के काल की अपेक्षा संख्यात होते हैं ।

कालक, क्षीणमोही और अद्योगि, एक से लेकर यावत् एक सौ आठ होते हैं और सम्पूर्ण श्रेणि के काल में शतपृथक्त्व होते हैं तथा समोगिकेवली कोटिपृथक्त्व होते हैं ।

**विशेषार्थ**—इन दो गाथाओं में आठवें से लेकर चौदहवें तक सात गुणस्थानों में विद्यमान जीवों का संख्याप्रभाव बतलाया है कि एक समय में किसने जीव उन-उन गुणस्थान में प्राप्त हो सकते हैं । लेकिन इन गुणस्थानों में आठवें से दसवें तक तीन गुणस्थानों की विशेष स्थिति है । ये तीनों गुणस्थान उपशमश्रेणि मांडने वाले जीवों में भी पाये जाते हैं और कालकश्रेणि मांडने वालों में भी प्राप्त होते हैं । अतएव इस प्रकार श्रेणि के भेद से इन तीनों गुणस्थानवर्ती जीवों का पृथक्-पृथक् निर्देश करके शेष ग्यारहवें से चौदहवें तक के भार गुणस्थानों के जीवों की संख्या बतलाई है ।

सबसे पहले उपशमश्रेणिवर्ती गुणस्थानों के जीवों की संख्या बतलाते हैं कि उपशमक याति उपशमकिया को करने वाले आठवें नीबें और दसवें गुणस्थानवर्ती जीव और उपशान्तमोह अर्थात् जिन्होंने मोह को सर्वथा शान्त किया है, ऐसे ग्यारहवें उपशान्तमोहगुणस्थानवर्ती जीव एक समय में एक साथ एक से लेकर चउबन तक हो सकते हैं । कारण सहित जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

उपशमक और उपशात्मोही ये दोनों प्रकार के जीव उपशमश्रेणि में अन्तर पड़ने के कारण<sup>१</sup> किसी समय होते हैं और किसी समय नहीं होते हैं। जिससे उपशमक आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थानवर्ती तथा उपशात्—उपशात्मोहगुणस्थानवर्ती जीव अब होते हैं, तब जधन्य से एक, दो या तीन और उत्कृष्ट चउबन होते हैं—‘एगाइ चउपण्णा’। यह प्रमाण प्रवेश करने वालों की अपेक्षा आमभा चाहिये, यानि इसने जीव एक समय में एक साथ उपशमश्रेणि सम्बन्धी अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में प्रवेश करते हैं। किन्तु उपशमश्रेणि के सम्पूर्ण काल की अपेक्षा विचार करें तो कुल मिलाकर भी संख्यात जीव ही होते हैं। तात्पर्य यह हुआ कि उपशमश्रेणि का काल अन्तमुहूर्त प्रमाण है और उस समस्त काल के उत्तरोत्तर समयों में अन्य-अन्य जीव भी यदि प्रवेश करें तो कुल मिलाकर वे सभी जीव संख्यात ही होंगे।

**प्रश्न**—उपशमश्रेणि के अन्तमुहूर्त प्रमाणकाल के असंख्यात समय होते हैं और उस काल के एक-एक समय में एक-एक जीव भी प्रवेश करे, तब भी श्रेणि के सम्पूर्ण काल में असंख्यात जीव सम्भव हैं, तो फिर दो-तीन से लेकर उत्कृष्टतः उत्तर तक की संख्या प्रवेश करे तो असंख्यात जीव क्यों नहीं होंगे? होंगे ही। तब ऐसा कैसे कहा जा सकता है कि उपशम श्रेणि के समस्त काल की अपेक्षा भी संख्यात जीव होते हैं?

**उत्तर**—उत्तर प्रश्न और कल्पना संगत नहीं है। क्योंकि उत्तर कल्पना तभी की जा सकती है, जब श्रेणि के अन्तमुहूर्त काल में प्रत्येक समय जीव प्रवेश करते ही हों। परन्तु प्रत्येक समय तो जीव प्रवेश करते नहीं हैं, कुछ एक समयों में करते हैं, जिससे उत्तर संख्या घटित होती है।

**प्रश्न**—अन्तमुहूर्तप्रमाण श्रेणि के काल के कुछ एक समयों में ही

<sup>१</sup> अंतर का उल्लेख आगे अंतर-प्रकृपण के प्रसंग में हपष्ट किया जायेगा।

जीव प्रवेश करते हैं, परन्तु सभी समयों में प्रवेश नहीं करते हैं, यह कैसे जाना जाए ?

उत्तर—उपशमश्रेणि में पथरित गर्भज मनुष्य ही प्रवेश कर सकते हैं, अन्य जीव नहीं। प्रवेश करने वाले मनुष्यों में भी चारित्रसम्पन्न आत्मायें ही प्रवेश करती हैं और चारित्रसम्पन्न आत्मायें अधिक-अधिक दो हजार करोड़ से लेकर भी हजार करोड़ हो होती हैं। उनमें भी सभी श्रेणि पर आरोहण नहीं करती हैं, किन्तु कुछ एक श्रेणि पर आरोहण करने वाली होती हैं। जिससे यह जाना जा सकता है कि उपशमश्रेणि के सभी समयों में जीवों का प्रवेश नहीं होता है, किन्तु कुछ ही समयों में होता है। उसमें भी किसी समय पन्द्रह कर्म-श्रमियों के आश्रय से अधिक-से-अधिक चाउडन जीव ही एक साथ प्रवेश करने वाले ही सकते हैं, अधिक नहीं। इसीलिये कहा है कि श्रेणि के समस्त काल में संख्यात जीव ही होते हैं, असंख्यात नहीं और वे संख्यात भी सौकड़ों की संख्या<sup>१</sup> में जानता चाहिये; हजारी की संख्या में नहीं।

इस प्रकार से उपशमश्रेणि सम्बन्धी आठवें, नीवें, दसवें और उपशमोहगुणस्थानवर्ती जीवों की संख्या का प्रमाण बतलाने के पश्चात् अब क्षपकश्रेणि की अपेक्षा आठवें से दसवें और क्षीणमोहादि गुणस्थानवर्ती जीवों का प्रमाण बतलाते हैं।

‘खदगा’ यानि क्षपक—चारित्रमोहनीय की भवणा करने वाले आठवें नीवें और दसवें गुणस्थानवर्ती जीव एवं ‘लीणाओगी’—क्षीण-मोहगुणस्थानवर्ती और अयोगिकेवलीगुणस्थानवर्ती जीव अधन्य से एक, दो और उत्कृष्ट से एक सी आठ होते हैं। इसका कारण यह है कि ऐसे सभी गुणस्थानवर्ती जीव किसी समय होते हैं और किसी समय नहीं होते हैं। क्योंकि क्षपकश्रेणि और अयोगिकेवलीगुणस्थानों का अन्तर पड़ता है। जिससे क्षपक—अपूर्वकरण, अनिवृत्तिवादरसंपराय

<sup>१</sup> अलीह होता है कि यहीं सौकड़ों प्रमाण संख्या नीं सी तक हो सकती है।

और सूक्ष्मसंपराय तथा अयोगिकेवली गुणस्थानों में जब जीव होते हैं, तब जघन्य से एक, दो और उल्कुष्ट से एक सौ आठ हो सकते हैं। यह कथन प्रवेश करने वालों की अपेक्षा जानना चाहिये कि अधिक-से-अधिक एक समय में एक साथ इतने जीव क्षपकश्रेणि में, क्षीणमोह-गुणस्थान में और अयोगिकेवलीगुणस्थान में प्रवेश करते हैं। क्षपक-श्रेणि और क्षीणमोह गुणस्थान का काल अन्तमुहूर्त प्रमाण और अयोगिकेवलीगुणस्थान का काल पांच हृस्वाक्षर जितना है। इस क्षपकश्रेणि के सम्पूर्णकाल में और अयोगिकेवलीगुणस्थान के काल में अन्य-अन्य जीव प्रवेश करें तो वे सब मिलकर शतपृथक्त्व ही होते हैं।

तात्पर्य यह है कि अन्तमुहूर्तप्रमाण क्षपकश्रेणि के समस्त काल में पन्द्रह कर्मभूमि में अन्य-अन्य जीव प्रवेश करें तो शतपृथक्त्व<sup>१</sup> जीव ही प्रवेश करते हैं, अधिक प्रवेश नहीं करते हैं। अयोगिकेवली की अपेक्षा भी यही समझना चाहिये।

सयोगिकेवलीगुणस्थानवर्ती जीव कोटिपृथक्त्व होते हैं। सयोगिकेवली सदैव होते हैं। क्योंकि यह नित्य गुणस्थान है। इस गुणस्थान में जघन्य से भी कोटिपृथक्त्व और उल्कुष्ट से भी कोटिपृथक्त्व जीव होते हैं, परन्तु जघन्य से उल्कुष्ट कोटिपृथक्त्व बड़ा जानना चाहिये।<sup>२</sup>

इस प्रकार से जीवस्थानों और गुणस्थानों की अपेक्षा द्रव्यप्रमाण बहलाने के बाद अब क्रमप्राप्त क्षेत्रप्रमाण का वर्णन करते हैं। यहाँ भी पूर्व कथनप्रणाली के अनुसार यहले जीवस्थानों के क्षेत्र का प्रतिपादन करते हैं।

**जीवस्थानों की क्षेत्रप्रलयणा**

अपजज्ञा बोक्षिषि सुहृष्टा दृग्विद्या जाए सख्ये ।

सेसा य असेषेऽज्ञा जावरपवणा असेषेसु ॥२५८॥

१ यही भी शतपृथक्त्व अधिक-से-अधिक नौ सौ सम्भव हैं।

२ यही भी जघन्य और उल्कुष्ट कोटिपृथक्त्व में जघन्य संख्या दो करोड़ और उल्कुष्ट संख्या नौ करोड़ समझना चाहिये।

**शास्त्रार्थ—**अपर्याप्ति—अपर्याप्ति, वेदज्ञ—दोनों, वि—भी, सुहमा—सूक्ष्म, एवंविधा—एकेन्द्रिय, जाए—जगत्-लोक में, सर्वे—समस्त, सेवा—जेव, अ—अौर, असंख्यता—असंख्यतात्वे, वायर—वादर, पदाव—दायुक्तय के जीव, असंख्यतु—असंख्यतात्वे भाग में।

**वाचार्थ—**दोनों प्रकार वे व्याप्तिः जो अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव समस्त लोक में हैं और वेद जीव लोक के असंख्यतात्वे भाग में हैं तथा वादर वायुकाय के जीव लोक के असंख्यतात्वे भाग में रहे हुए हैं।

**विशेषार्थ—**क्षेत्रप्रमाण प्रसूपणा प्रारम्भ करते हुए गाथा में जीवभेदों के क्षेत्र का प्रमाण बताया है कि दोनों प्रकार के अपर्याप्त अथवा लविद्य-अपर्याप्त और करण-अपर्याप्त तथा गाथोत्तम 'वि-अपि' शब्द अनुकूल का समुच्चायक होने से पर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय पृथ्वी, जल, तेज, वायु और वनस्पति—ये प्रत्येक प्रकार के जीव समस्त लोकाकाशभ्यापी हैं—समस्त लोकाकाश में रहे हुए हैं।

**प्रश्न—**पर्याप्तादि समस्त भेद वाले पृथ्वीकाशादि सभी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सम्पूर्ण लोकभ्यापी हैं, ऐसा कहने से ही जब सभी भेद वाले सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में हैं, यह इष्ट अर्थ सिद्ध हो जाता है, तब पुनः सुख्य रूप से अपर्याप्त का ग्रहण और 'अपि' शब्द से पर्याप्त का ग्रहण किसलिये किया है?

**उत्तर—**यद्यपि सूक्ष्म जीवों में पर्याप्त की अपेक्षा अपर्याप्त अहं है, तथापि स्वरूपतः अपर्याप्त जीवों का बाहुल्य बताने के लिये मुख्य रूप से अपर्याप्त का ग्रहण किया है। वह इस प्रकार कि यद्यपि पर्याप्त से अपर्याप्त संख्यात्मगुणहीन है, फिर भी वे समस्त लोक में रहते हैं, इस कथन द्वारा यह स्पष्ट रूप से जात होता है कि अवश्य ही वे अधिक हैं।

**कथाचित्** यह शंका हो कि पर्याप्त की अपेक्षा अपर्याप्त सूक्ष्म संख्यात्मगुणहीन कैसे हो सकते हैं। अपर्याप्त तो अधिक होने चाहिये?

तो इसका उत्तर यह है कि प्रश्नापनासूत्र में सूक्ष्म अपयोगिकों की अपेक्षा पर्याप्तिकों को संख्यात्मणा कहा है। तत्सम्बन्धी पाठ इस प्रकार है—

‘संख्योवा सुहृष्टा अपज्ञता, पञ्जस्ता संख्यात्मण ति ।’

अर्थात्—सूक्ष्म अपयोगित अरूप हैं और पर्याप्ति संख्यात्मण हैं।

इसी प्रकार अस्यत्र भी कहा है कि—

जीवाणमपञ्जस्ता बहुतरसा वायराण विनेया ।

सुहृष्टा उ पञ्जता, ओहेण उ केवली विति ॥

ब्रथात्—बादर जीवों में अपयोगित अधिक और सूक्ष्म जीवों में पर्याप्ति अधिक जानना चाहिये, ऐसा सामान्य से केवली भगवान् ने कहा है :

इस प्रकार सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के क्षेत्र का विचार करने के बाद अब शेष रहे बादर एकेन्द्रिय पृथ्वी आदि तथा द्वीन्द्रिय आदि जीवों के क्षेत्र का प्रमाण बताना लेते हैं कि पर्याप्ति-अपयोगित बादर एकेन्द्रिय पृथ्वी, अप्, तेज और वनस्पति तथा द्वीन्द्रिय आदि सभी जीव लोक के असंख्यात्मक भाग में रहते हैं—‘सेसा य असंख्यजा’ तथा पर्याप्ति-अपयोगित बादर वायुकाय के जीव लोक के असंख्यात्मक भागों में रहते हैं। क्योंकि लोक का जो कुछ भी पोला भाग है, उस सभी भाग में वायु रहती है। मेरु पर्वत के मध्य भाग बादि या उस सरीखे दूसरे अति निविड़ और निचित—सुधटित अवश्यव बहले क्षेत्रों में बादर वायुकाय के जीव नहीं होते हैं। क्योंकि वहाँ पोलापन नहीं होता है। ऐसा निचित भाग सम्पूर्ण लोक का असंख्यात्मक भाग ही है, इसलिये एक असंख्यात्मक भाग छोड़कर शेष समस्त असंख्यात्मक भागों में बादर वायुकाय के जीव रहते हैं।

इस प्रकार से जीवभेदों के क्षेत्र को बताने के बाद अब सुणस्थानों की अपेक्षा क्षेत्रप्रसारण को बताते हैं।

## गुणस्थानवेद्धा क्षेत्रप्रभाव

सासायणाह सच्चे स्तोयस्त असंख्यमिम् भरणमिम् ।  
मिच्छा उ सव्वलोए होइ सजोगी दि समुद्घाए ॥२६॥

**शब्दार्थ—** सासायणाह—सासादन आदि गुणस्थान वाले जीव, सच्चे—सभी, स्तोयस्त—लोक के, असंख्यमिम्—असंख्यात्मे, भरणमिम्—भाग में, मिच्छा—मिथ्याहृष्टि, उ—और, सव्वलोए—समस्त लोक में, होइ—होते हैं, सजोगी—सजोगिकेवली, दि—भी, समुद्घाए—समुद्घात अवस्था में।

**गाथार्थ—** सासादन आदि सभी गुणस्थान वाले जीव लोक के असंख्यात्मे भाग में रहे हुए हैं, मिथ्याहृष्टि सम्पूर्ण लोक में है और समुद्घात अवस्था में सजोगिकेवली भी सम्पूर्ण लोकव्याप्ति होते हैं।

**विशेषार्थ—** ‘सासायणाह सच्चे …’ इत्यादि अर्थात् सासादन सम्पूर्ण-हृष्टि आदि क्षीणसोहुगुणस्थान पर्यन्तवर्ती जीव लोक के असंख्यात्मे भाग में रहते हैं। क्योंकि सम्पूर्णमिथ्याहृष्टि आदि गुणस्थान संज्ञी पञ्चेन्द्रिय में ही होते हैं और सासादनगुणस्थान अति अल्प कलित्य करण-अपर्याप्त बादर पृथ्वी, जल, अन्तर्पत्ति, विकलेन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों में भी पाया जाता है, परन्तु वे और तीसरे आदि गुणस्थान वाले संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अति अल्प होने से लोक के असंख्यात्मे भाग में ही होते हैं। इसी कारण उनका क्षेत्र लोक का असंख्यात्मवान् भाग बताया है।

मिथ्याहृष्टि जीव सम्पूर्ण लोक में पाये जाते हैं। क्योंकि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सकल लोकव्यापी हैं और वे सभी मिथ्याहृष्टि हैं तथा समुद्घातस्थिति में सजोगिकेवलीगुणस्थानवर्ती जीव भी सकल लोकव्यापी हो जाते हैं। समुद्घात करने वाले केवली की आत्मा पहले दण्ड समय और दूसरे कपाट समय में लोक के असंख्यात्म भाग में रहती है एवं तीसरे मंथान समय में लोक के असंख्यात्म भागों में

रहती है और जीये समय में सम्पूर्ण लोकव्यापी होती है। शास्त्र में भी कहा है—

‘बदुर्वं लोकपूरणमस्तम् सहार इति ।’

अर्थात्—जीये समय में अपने आत्मप्रदेशों द्वारा सम्पूर्ण लोक को पुरित—व्याप्त करती है और आठवें समय में संहार करके शारीरस्थ होती है।

इस प्रकार से गुणस्थानों की अपेक्षा केवलप्रभाव जानना चाहिये। ऊपर वह तो कहा है कि समुद्घात में सयोगिकेवली भी सम्पूर्ण लोकव्यापी होते हैं, लेकिन समुद्घात का स्वरूप नहीं बताया है। इसलिये प्रासंगिक होने से अब समुद्घात का विवेचन करते हैं।  
समुद्घात-विवेचन

धेयण-कसाय-मारण-बेउद्धिय-सेउहार-केवलिया ।

सग-पण चउ तित्रि कमा मणुसुरनेरहृष्टिरियाणं ॥२७॥

धचेन्द्रियतिरियाणं देवाण व होति पंच सम्भीणं ।

बेउद्धियवाऽणं पहमा चउरो समुग्धाया ॥२८॥

**शब्दार्थ—** धेयण—वेदना, कसाय—कषाय, मारण—मारण, बेउद्धिय—वैक्रिय, सेउहार—तंजस, आहारक, केवलिया—केवलिक, केवली, सग—सात, पण—पांच, चउ—चार, तित्रि—तीन, कमा—कमण, मणु—मनुष्य, सुर—देव, मेरहृष्ट—नारक, तिरियाण—तिर्यकों के।

**पंचेन्द्रियतिरियाण—** धचेन्द्रिय तिर्यकों के, देवाण व—देवों के सहश, होति—होते हैं, पंच—पांच, सम्भीण—संज्ञी, बेउद्धियवाऽणं—वैक्रियलक्षित्युक वानुकायिक जीशों के, पहमा—प्रथम आदि के, चउरो—चार, समुग्धाया—समुद्घात।

**गाथार्थ—** वेदना, कषाय, मारण, वैक्रिय, तंजस, आहारक और केवली ये समुद्घात के सात प्रकार हैं। उनमें से मनुष्य, देव, नारक और तिर्यकों में अनुक्रम से सात, पांच, चार और तीन होते हैं तथा किन्हीं किन्हीं संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यकों में देवों की तरह पांच

समुद्घात होते हैं और वैक्षिक्यलग्निसम्पन्न वायुकार्यिक जीवों के आदि के चार समुद्घात होते हैं।

**विशेषार्थ—**इन दो गाथाओं में समुद्घात के ऐद और उनके स्वाभियों को बतलाया है। जिसका स्वष्टीकरण इस प्रकार है—

सम्, उत् और धात इन तीन शब्दों के संयोग से समुद्घात पद बना है। सम् का अर्थ है तन्मय होना, उत् यानि प्रबलता से, बहुत से, धात अथवा काय होना। इसका तात्पर्य यह हुआ कि तन्मय होने के द्वारा कालान्तर में भोगनेयोग्य बहुत से कर्माणों का जिसके द्वारा काय होता है, वह समुद्घात है। यदि कहो कि तन्मयता किसके साथ होती है? तो इसका उत्तर है कि वेदनादि के साथ। अथवा जब आत्मा वेदना आदि समुद्घात को प्राप्त हुई होती है तब वेदना आदि का अनुभव ज्ञान में परिणत होता है, यानि उसी के उत्थयोग जाली होती है, अन्य ज्ञानरूप परिणत नहीं होती है और उस समय प्रबलता से कर्मशय इस प्रकार करती है कि वेदनादि के अनुभवज्ञान में परिणत आत्मा कालान्तर में अनुभव करनेयोग्य बहुत से वेदनीय आदि के कर्मप्रदेशों को उदीरणाकरण के द्वारा आकृषित कर उदयावलिका में प्रविष्ट कर क्षय करती है, आदमप्रदेशों के साथ एकाकार हुए कर्माणुओं का नाश करती है। इस प्रकार से समुद्घात का स्वरूप जानना चाहिये।

अब समुद्घात के ऐद और उनकी लाक्षणिक व्याख्या करते हैं—

समुद्घात के सात ऐद हैं—वेदना, कषाय, मारणान्तिक, वैक्षिय, तीजस, आहारक और केवली। इन वेदना आदि शब्दों के साथ उत्तरवर्ती गाथा में प्रयुक्त समुद्घात शब्द की जोड़कर इस प्रकार इसका पूरा नाम कहना चाहिये—वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात आदि।

**वेदनासमुद्घात—**वेदना द्वारा जो समुद्घात होता है उसे वेदना-समुद्घात कहते हैं। वह असातावेदनीयकर्मज्ञय है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि जब आत्मा वेदनासमुद्घात को प्राप्त होती है तब

असात्मावेदनीयकर्म के पुद्गलों को क्षय करती है अथवा वेदना से विछल हुई आत्मा असंतानन्त कर्मस्कन्धों से विच्छिन्न अपने आत्मप्रदेशों को शरीर से बाहर भी निकालती है। शरीर के तीन भागों में से एक भाग पोला है, जिसमें आत्मप्रदेश नहीं होते हैं, दो भाग में होते हैं। जब समुदधात होता है तब असंतानन्त एवं अप्रदेश खल होते हैं और वे स्वस्थान से बाहर निकलते हैं और जिकले हुए उन प्रदेशों के द्वारा मुख, उदर आदि के पोले भाग और कान, कंधा आदि के बीच के भाग पूरित ही लम्बाई-चौड़ाई में शरीरप्रमाण क्षेत्रव्यापी होकर अन्तमुहूर्त कालपर्यन्त रहती है और उतने काल में वह आत्मा प्रभूत असात्मावेदनीयकर्म का क्षय करती है।

**कषायसमुदधात**—कषाय के उदय से होनेवाला समुदधात कषाय-समुदधात कहलाता है और वह चारित्रमोहनीयकर्मजन्म है। अथवा कषायसमुदधात को करती हुई आत्मा कषायचारित्रमोहनीय के कर्मपुद्गलों का क्षय करती है और वह क्षय इस प्रकार करती है कि कषाय के उदय से समाकुल—व्याकुल, विछल आत्मा अपने प्रदेशों को बाहर निकालकर और उन प्रदेशों द्वारा मुख, उदर आदि पोले भाग की पूरित कर तथा कान, कंधा आदि के अन्तर भाग को भी पूरित कर लम्बाई-चौड़ाई में शरीरप्रमाण क्षेत्र को व्याप्त कर अन्तमुहूर्त प्रमाण रहती है और उतने काल में बहुत से कषायमोहनीय के कर्मपुद्गलों का क्षय करती है।

**मारणान्तिकसमुदधात**—इसी प्रकार मारणान्तिकसमुदधात के लिये भी समझना चाहिये। अथवा मरणकाल में होने वाला जो समुदधात उसे मरण या मारणान्तिकसमुदधात कहते हैं। यह आषुकर्मविधयक है और अन्तमुहूर्त आयु के शेष रहने पर यह समुदधात होता है और आत्मा आयुकर्मपुद्गलों का क्षय करती है।

**वैक्रियसमुदधात**—वैक्रियशरीर का प्रारम्भ करने समय होने वाला समुदधात वैक्रियसमुदधात कहलाता है। यह वैक्रियशरीरनामकर्म-

विषयक है। वैक्तिप्रसमुद्घात करती हुई आत्मा अपने प्रदेशों को शरीर से बाहर निकालकर उन प्रदेशों की मोटाई और चीड़ाई में अपने शरीरप्रमाण और लम्बाई में संख्यात योजनप्रमाण दण्ड करती है और दण्ड करके वैक्तिप्रशारोहनामकर्म के पुद्गलों को पहले को तरह थथा करती है।

तैजस, आहारक समुद्घात—तैजस और आहारक समुद्घात अनुक्रम से तैजस और आहारक शरीरतामकर्मजन्य हैं और इनको वैक्तिप्रसमुद्घात की तरह समझना चाहिये। लेकिन इतना विशेष है कि तैजस और आहारक समुद्घात करती हुई आत्मा क्रमशः तैजस और आहारक नामकर्म के पुद्गलों को थव करती है। वैक्तिप्र और आहारक ये दोनों समुद्घात उस-उस अरीर की विकुर्वण करते समय होते हैं तथा तैजससमुद्घात जब किसी जीव पर तेजोलेशया फैलती जाती है, तब होता है।

केवलिसमुद्घात—अन्त मुहूर्त में मोक्ष जाने वाले केवलिभगवन्तों को होने वाला समुद्घात केवलिसमुद्घात कहलाता है। केवलिसमुद्घात करते हुए केवलिभगवान् साता-असाता वेदनीय, शुभ-अशुभ नामकर्म और उच्च-नीच गोत्रकर्म के पुद्गलों का थय करते हैं।

उक्त सात प्रकार के समुद्घातों में से केवलिसमुद्घात के अतिरिक्त शेष सभी समुद्घातों का काल अन्त मुहूर्त है। मात्र केवलिसमुद्घात का काल बाठ समय है।<sup>१</sup>

अब इन समुद्घातमेदों का चार गतियों में विचार करते हैं—

मनुष्यगति में सातों समुद्घात होते हैं। क्योंकि मनुष्यों में सभी आव संभव हैं। देवगति में आदि के पांच समुद्घात होते हैं। क्योंकि चौदहपूर्व का अद्ययन और धार्यिक ज्ञान, वर्णन, चारित्र नहीं होने से

<sup>१</sup> समुद्घात का विशेष विकेन्त्र प्रसापनासूत्र के ३६वें पद में देखिये।

आहारक और केवलि, ये दो समुद्धात नहीं होते हैं। नरकगति में आदि के चार समुद्धात होते हैं। क्योंकि तेजोलबिधि भी न होने के कारण नारकों में तैजससमुद्धात भी नहीं हो सकता है। इसीलिये नरकगति में तैजस, आहारक और केवलि समुद्धात के सिवाय शेष चार समुद्धात माने जाते हैं। तिर्यचगति में वैक्रियलबिधि वाले संज्ञी पञ्चेन्द्रिय और वायुकायिक जीवों को छोड़कर शेष जीवों में आदि के वेदना, कथाय और मारणान्तिक, ये तीन समुद्धात होते हैं। इन तिर्यच जीवों में वैक्रियलबिधि न होने वे वैक्रियसमुद्धात हो जिन्हें किया है। लेकिन कितने ही संज्ञों पञ्चेन्द्रिय तिर्यचों में देवों की तरह पाँच समुद्धात होते हैं। क्योंकि उनमें वैक्रिय और तेजोलबिधि भी संभव है और वैक्रियलबिधि वाले वायुकाय के जीवों के आदि के वेदना, कथाय, मारणान्तिक और वैक्रिय, ये चार समुद्धात पाये जाते हैं।

इस प्रकार से थेवप्ररूपणा जानना चाहिये। अब स्पर्शनप्ररूपणा करते हैं। पहले जीवभेदों की अपेक्षा स्पर्शना का विचार करते हैं।

### जीवभेदप्रेक्षा स्पर्शना

चउदसविहावि जीवा समुद्धाएणं फुसति सञ्चजगं ।

रिउसेष्टीए व केई एवं मिळ्ला सजोगी या ॥ २६ ॥

**शब्दार्थ**—चउदसविहावि—चौदहों प्रकार के जीवा—जीव, समुद्धाएण—समुद्धात ने, फुसति—सार्वा करते हैं, सञ्चजग—समस्त लोक का, रिउसेष्टीए—अजुश्वेण द्वारा, व—अथवा, केई—कितने ही, एवं—इसी प्रकार, मिळ्ला—मिथ्याहटि, सजोगी—मरोगिकेवली, या—जीव।

**गाथार्थ**—चौदहों प्रकार के जीव समुद्धात द्वारा सर्व लोक का सार्व करते हैं अथवा कितने ही जीव अजुश्वेण द्वारा सर्व जगत का स्पर्श करते हैं। इसी प्रकार मिथ्याहटि और सयोगिकेवली समुद्धात द्वारा सर्वलोक का स्पर्श करते हैं।

**विशेषार्थ**—गाथा में सभी जीवभेदों और पहले एवं तेरहवें गुण-

स्थानवर्ती जीवों की स्पर्शना का विचार किया गया है। जीवमेदों की अपेक्षा स्थाना का विचार इस प्रकार है कि—

‘चउदसविहादि जीवा’ अर्थात् अपर्याप्ति, पर्याप्ति सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि चौदह प्रकार के जीव ‘समुद्धारण’—मारणान्तिकसमुद्धारत द्वारा सम्पूर्ण लोक का स्पर्श करते हुए—‘फुलति सब्बज्ञने’।

लेकिन सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा इतना विशेष है कि पर्याप्ति और अपर्याप्ति वे दोनों प्रकार के सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सम्पूर्ण लोक में है हुए हैं। जिससे वे स्वस्थान की अपेक्षा भी सम्पूर्ण लोक की स्पर्श करते हुए उत्पन्न होते हैं। स्वस्थान की अपेक्षा यानि सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सूक्ष्म एकेन्द्रिय के रूप में उत्पन्न हो सो उनके सम्पूर्ण लोकवर्ती होने से समुद्धारत के बिना भी वे सम्पूर्ण जगत का स्पर्श करते हुए उत्पन्न होते हैं। जब स्वस्थान की अपेक्षा सर्व जगत का स्पर्श करते हुए उत्पन्न होते हैं तो फिर मारणान्तिकसमुद्धारत द्वारा सर्व जगत का स्पर्श करते हुए क्यों उत्पन्न नहीं होंगे? अर्थात् उत्पन्न होंगे ही। क्योंकि कितने ही जीव अद्वैलोक से ऊर्ध्वलोक में उत्पन्न होते हैं, उनके चौदह राजू की स्पर्शना सम्भव है।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय के अलावा बादर अपर्याप्त एकेन्द्रियादि सभी जीव स्वस्थानापेक्षा लोक के असंख्यातवै भाग में ही है हुए हैं, जिससे वे स्वस्थानापेक्षा तो सर्व लोक का स्पर्श नहीं करते हैं, परन्तु समुद्धारत द्वारा समस्त लोक का स्पर्श करते हैं। वह इस प्रकार जानता चाहिये कि—

मारणान्तिकसमुद्धारत करती हुई आत्मा भोटाई और चौड़ाई में अपने शरीर प्रमाण और लम्बाई में जघन्य से अंगुल के असंख्यातवै भाग और उक्कड़ से असंख्याता योजनप्रमाण अपने प्रदेशों को दण्डाकाररूप में परिणत करती है और परिणत करके आगामी भव में जिस स्थान पर उत्पन्न होगी, उस स्थान में अपने दण्ड का प्रक्षेत्र करती है। यदि वह उत्पत्तिस्थान समश्वेणि में ही तो मारणान्तिक-

समुद्धात द्वारा एक समय में ही प्राप्त करती है और यदि विषम-श्रेणि में हो तो उत्कृष्ट से चौथे समय में प्राप्त करती है।

इस प्रकार अपश्चित बादर एकेन्द्रियादि वारह प्रकार के जीव मारणान्तिकसमुद्धात द्वारा सर्व जगत का स्पर्श कर सकते हैं। यह कथन अनेक जीवों की अपेक्षा जानना चाहिये। जिसका स्फटीकरण इस प्रकार है—

सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव चौदह राजुप्रमाण कौचे लोक में व्याप्त होने से उनमें का एक भी जीव मारणान्तिकसमुद्धात द्वारा अथवा ऋजु-श्रेणि द्वारा चौदह राजु को स्पर्श कर सकता है। परन्तु बादर एकेन्द्रिय आदि वारह प्रकार के जीव सर्व लोकव्यापी नहीं होने से उनमें का कोई एक जीव ऊपर ऊर्ध्वलोक के<sup>१</sup> स्वयोग्य स्थान में उत्पन्न हो, अन्य जीव तीव्रे स्वयोग्य स्थान में उत्पन्न हो, इस प्रकार अनेक जीवों की अपेक्षा मारणान्तिकसमुद्धात द्वारा उनमें चौदह राजु वाले लोक की स्पर्शना घट सकती है तथा कितने ही सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव ऋजु-श्रेणि द्वारा भी समस्त लोक का स्पर्श करते हैं।<sup>२</sup>

ऋजुश्रेणि द्वारा स्पर्श कैसे करते हैं? तो इसका उत्तर यह है कि अधीलोक में से ऊर्ध्वलोक के अन्त में उत्पन्न होने पर सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव चौदह राजु का स्पर्श करते हैं। इसी प्रकार समस्त दिशाओं के लिये जात लेना चाहिये। जिससे एक, अनेक जीवों की अपेक्षा ऋजु-श्रेणि के द्वारा भी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव समूर्ण लोक का स्पर्श करते हैं।

१ ऊर्ध्वलोक में अनुत्तर विभान के पृष्ठीपिंड में अथवा सिद्धशिला में एकेन्द्रिय रूप से और नीचे सांतुष्टे नरक के फायदों के पृष्ठीपिंड में उत्पत्ति सम्भव है।

२ ऋजुश्रेणि द्वारा सर्व जगत का स्पर्श करते हैं, ऐसा कहने का कारण यह है कि सभी जीव मारणान्तिकसमुद्धात करें ही, ऐसा नहीं है, कोई करते हैं और कोई नहीं भी करते हैं। जो नहीं करते हैं, वे भी ऋजुगति द्वारा चौदह राजु की स्पर्शना कर सकते हैं।

इस प्रकार से अपर्याप्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय आदि औदृढ़ प्रकार के जीवभेदों की स्पष्टिना का विचार करने के बाद अब गुणस्थानों की अपेक्षा स्पष्टिना का विचार करते हैं।

### गुणस्थानापेक्षा स्पष्टिना-प्रलेपण

मिथ्यात्मगुणस्थानवर्ती और सयोगिकेवली भगवान् सर्व जगत् का स्पष्टि करते हैं। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

यह पूर्व में बताया जा चुका है कि समस्त सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव सम्पूर्ण लोक का स्पष्टि करते हैं और सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों के मिथ्याहृष्टगुणस्थानवर्ती जीव सर्व लोक का स्पष्टि करते हैं तथा सयोगिकेवली भगवान् केवलि-समुद्धात के जीवे समय में सम्पूर्ण लोक का स्पष्टि करते हैं। जिसका उल्लेख क्षेत्रप्रलेपण के प्रसंग में किया जा चुका है। तबनुखार यही भी समझ लेना चाहिये।

अब शेष गुणस्थानों की स्पष्टिना का कथन करते हैं—

भीसा अजया अड अड बारह सासायना छ देसर्हि ।

सर्व सेता उ फुसंति रज्जु जीणा असंख्यं रादा॥

शब्दार्थ—भीसा—मिथ्, अजया—अविरतसम्यग्हृष्टि, अड अड—आठ-आठ, बारह—बारह, सासायना—सासादनसम्यग्हृष्टि, छ—छह, देसर्हि—देशविरत, सर्व—सात, सेता—शेष, उ—और, फुसंति—स्पष्टि करते हैं, रज्जु—राजू, जीणा—जीणमोहगुणस्थानवर्ती, असंख्यं—असंख्यतर्वे राजू को।

गाथार्थ—मिथ्याहृष्टि और अविरतसम्यग्हृष्टि आठ-आठ राजू को, सासादनसम्यग्हृष्टि बारह राजू को, देशविरत छह राजू को और जीणमोहगुणस्थान को छोड़कर शेष गुणस्थान वाले जीव सात-सात राजू को एवं जीणमोहगुणस्थान वाले राजू के असंख्यतर्वे भाग को स्पष्टि करते हैं।

विशेषार्थ—गाथा में दूसरे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के

जीवों की स्पर्शना का प्रमाण बतलाया है। जिसका तीस वायाकों में कारण सहित स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सहसारं लिथवेषा नारथने हेण जंति तद्यभुवं ।  
 तिर्यग्निं छट्टुवं जा अच्छुदेवेण इयरसुरा ॥३१॥  
 छट्टुए ने रहओ सासणभावेण एह तिरिमणुए ।  
 लोगतनिकुडेसु अंतिङ्ग्ने सासणमुण्ठ्या ॥३२॥  
 उवसामग्नवसंता सञ्चट्ठे अप्यमस्तविरया य ।  
 गच्छन्ति रिजगईए पुंडेसजया च बारसमे ॥३३॥

**शब्दार्थ**—सहसारं लिय—सहसार तक के, देव—देव, नारथने हेण—नारकों के स्नेह से, जंति—जाते हैं, तद्यभुवं—तीसरी पृथ्वी, तिर्यग्नि—ले जाते हैं, अच्छुवं—अच्छुत, जा—पर्यन्त, अच्छुदेवेण—अच्छुत देवलोक के देव, इयरसुरा—दूसरे देवों को ।

छट्टुए—छठी नरकपृथ्वी में वर्तमान, नेरइओ—नारक, सासणभावेण—सासादनभाव सहित, एह—आते हैं, उत्पन्न होते हैं, तिरिमणुए—तिर्यग्नि और मनुष्य में, लोगतनिकुडेसु—लोकान्त के निष्कुट क्षेत्रों में, जंति—जाते हैं, अन्य—अन्य, सासणमुण्ठ्या—सासादनमुण्ठ्यान स्थान याते ।

उवसामग—उपशमक, उवसंता—उपशांत, सञ्चट्ठे—सञ्चर्षिति विमान में, अप्यमस्तविरय—अप्रमत्तविरत, य—और, गच्छन्ति—जाते हैं, उत्पन्न होते हैं, रिजगईए—ऋग्युति से, पुं—पुरुष (मनुष्य), बेसजया—वेगविरत जीव, च—और, बारसमे—बारहवें ।

**वायाक**—सहसार देवलोक तक के देव नारकों के स्नेह से तीसरी पृथ्वी तक जाते हैं और अच्छुत देवलोक के देव दूसरे देवों को अच्छुत देवलोक पर्यन्त ले जाते हैं, (जिससे उनकी आठ-आठ राजू की स्पर्शना घटित होती है ।)

छठी नरकपृथ्वी में वर्तमान नारक सासादनभाव सहित तिर्यग्नि या मनुष्य में उत्पन्न होते हैं तथा किसने ही सासादन-मुण्ठ्यानवर्ती जाव लोकान्त के निष्कुट क्षेत्रों में उत्पन्न होते हैं ।

इस प्रकार कुल मिलाकर उनकी बारह राजू की स्पर्शना होती है।

उपशमन, उपशान्त और प्रभत, अप्रमत्तविरत जीव शुद्धजुगलि से सबर्थिंसिद्धविमान में उत्पन्न होते हैं तथा देशविरत मनुष्य बारहवें देवलोक में उत्पन्न होते हैं। (इस-इस अपेक्षा से उभ-उन गुणस्थानवर्ती जीवों की क्रमसः सात और छह राजू की स्पर्शना घटित होती है।)

**विशेषार्थ—**इन तीन गाथाओं में से पहली गाथा में तीसरे और चौथे गुणस्थानवर्ती जीवों की, दूसरी में दूसरे सासादनगुणस्थानवर्ती जीवों की और तीसरी में पांचवें से लेकर बारहवें गुणस्थान तक के जीवों की स्पर्शना का विचार किया गया है। अनुक्रम से जिसका स्पष्टीकरण हस प्रकार है—

मिश्रहट्टगुणस्थानवर्ती जीव मरण को प्राप्त नहीं होने से यहाँ भवस्थ मिश्रहट्ट का ग्रहण करना चाहिये।

सहस्रार देवलोक तक के देव पूर्वजन्म के मिश्र नारक के स्नेहवस्थ उसकी वेदना शान्त करने अथवा उफलक्षण से पूर्वजन्म के शत्रु नारक की वेदना बढ़ाने के लिये तीसरी नरकपृथ्वी तक जाते हैं। यद्यपि आनन्द आदि देवलोकों के देवों में जाने की शक्ति है, किन्तु अल्प स्नेह आदि वाले होने के स्नेहादि प्रयोजन से भी नरक में नहीं जाते हैं। इसीलिये यहाँ सहस्रार तक के देवों का ग्रहण किया है।

अच्युत देवलोक के देव जन्मान्तर के स्नेह से अथवा इसी भव के स्नेह से अन्य देवों को अच्युत देवलोक पर्याप्त ले जा सकते हैं। जिससे मिश्रहट्ट और अविरतसम्यग्हट्ट इन दोनों के आठ-आठ राजू की स्पर्शना घटित होती है।<sup>१</sup>

१ अविरतसम्यग्हट्ट की स्पर्शना मिश्रहट्ट की सरह जो आठ राजू की कही है, उसमें मिश्रहट्ट मरण को प्राप्त नहीं होने से जैसे भवस्थ का (क्रमसः)

इसका तात्पर्य यह हुआ कि पूर्वजन्म का अथवा इस जन्म का मित्र अच्युतदेवलोक का देव स्नेहवशात् जब मिश्रहण्ठि भवनपति आदि देव को अच्युतदेवलोक में ले जाये तब उसके छह राजू की स्पर्शना घटित होती है। क्योंकि तिर्यगलोक (मध्यलोक) से अच्युत-देवलोकपर्यन्त छह राजू<sup>१</sup> होते हैं तथा कोई सहस्रारकत्यावासी मिश्रहण्ठि देव पूर्वजन्म के मित्र नरक की वेदना शान्त करने अथवा पूर्व के शशु नारक की वेदना उदीरित करने वालुकाप्रभा नामक तीसरी नरकपृथ्वीपर्यन्त जाये तब भवनवासी देवों के निवास के नीचे दो

यहाँ किया है, उसी प्रकार प्रहण को प्राप्त करने पर भी भवस्थ अविरत-सम्यग्हण्ठि की विवक्षा की हो ऐसा प्रसीद होता है। तभी मिश्रहण्ठि की तरह अविरत की आठ राजू की स्पर्शना बताई है। यदि ऐसी विवक्षा न की जाये तो अविरतसम्यग्हण्ठि के नीचे राजू की स्पर्शना होती है। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

अनुत्तर विमान से अवकर मनुष्यमति में आने पर सात राजू की स्पर्शना होती है तथा सहस्रारादि कोई सम्यग्हण्ठि देव नारकी की वेदना बढ़ाने या शांत करने तीसरे नरक पर्यन्त जाते हैं, जिससे पहले और दूसरे नरक के एक राजू का स्पर्श करने से दो राजू हुए। जिनको उपर्युक्त सात राजू में मिलाने पर नी राजू होते हैं। परन्तु उनका एहाँ प्रहण नहीं किया है, किन्तु आठ राजू की स्पर्शना कही है। इससे यह सिद्ध होता है कि मिश्रहण्ठि की तरह भवस्थ अविरतसम्यग्हण्ठि की विवक्षा दी है।

१ सात नरकपृथ्वियों में से प्रत्येक के एक-एक राजू जोकि होने से अधोलोक के सात राजू में भलभेद नहीं है, किन्तु ऊर्ध्वलोक के सात राजू में भलभेद है। बृहत्संग्रहणी आदि के अधिग्रायामुसार प्रथम नरकपृथ्वी के ऊपरी तल से सीधर्मदेवलोकपर्यन्त एक राजू, वहाँ से माहेश्वरकल्पपर्यन्त दूसरा राजू, वहाँ से तीसरकपर्यन्त तीसरा राजू, वहाँ से सहस्रार तक चौथा राजू, वहाँ से अच्युतपर्यन्त पांचवाँ राजू, वहाँ से श्रीवेणुकपर्यन्त छठा और वहाँ से लोकान्त पर्यन्त सातवाँ राजू होता है। यहाँ तिर्यगलोक के मध्य भाग

राजू अधिक होने से पूर्वोक्त छह राजू में इन दो राजू को मिलाने पर आठ राजू होते हैं।

इस प्रकार अनेक जीवों को अपेक्षा मिश्रहट्टि जीव की तिर्यक्लोक से अच्युत तक छह राजू और पहली, दूसरी नरकपृथ्वी की एक-एक राजू कुल मिलाकर आठ राजू की स्पर्शना होती है।

अथवा कोई मिश्रहट्टि सहस्रारकल्पवासी देव पूर्वोक्त कारण से तीसरी नरकपृथ्वी में जाता हुआ सात राजू स्पर्श करता है और उसी सहस्रार देव को कोई अच्युतदेवलोक का देव स्नेहवश अच्युतदेवलोक में ले जाये तब सहस्रार से अच्युत तक के एक राजू को अधिक स्पर्श करता है। इस प्रकार एक ही देव की अपेक्षा भी आठ राजू की स्पर्शना घटित होती है। अविरतसम्यहट्टि के भी मिश्रहट्टि की तरह आठ राजू की स्पर्शना समझना चाहिये।

**प्रथम—अविरतसम्यहट्टि** उसी भव में सम्यक्त्व में रहते हुए काल भी करते हैं और सम्यक्त्व को साथ लेकर अन्य गति में भी जाते हैं, जिससे उनका दूसरी प्रकार से भी विचार क्यों नहीं करते? मिश्रहट्टिकृत् भवस्थ सम्यक्त्वी की अपेक्षा ही क्यों विचार किया है?

**उत्तर—**दूसरी तरह से उनकी आठ राजू की स्पर्शना असंभव है। क्योंकि सम्यक्त्व सहित तिर्यक्त्व अथवा मनुष्य कालघर्म को प्राप्त कर-

से अच्युतपर्यन्त पांच राजू होते हैं, यह कहा है। परन्तु जीवसमाप्तादि के मत से छह राजू होते हैं, जो इस प्रकार जानना चाहिए.....

ईसाणमि विवड्धा अद्वाइज्जा य रज्जुमाहिन्दे।

पर्येव सहस्रारे छ अच्युत् सत् लोगते॥५६॥

अथर्व तिर्यक्लोक के मध्य भाग से ईकानपर्यन्त छेद राजू, महिन्द्र-पर्यन्त ढाई राजू, सहस्रारपर्यन्त पांच राजू, अच्युतपर्यन्त छह राजू और लोकान्त पर्यन्त सात राजू होते हैं।

यहीं जो छह राजू का संकेत किया है, वह इसी पाठ के आधार से किया है और उसी अच्युतपर्यन्त छह राजू की स्पर्शना घटित होती है।

दूसरी आदि नरकपृथिव्यों में जाता नहीं है। तथा उसी प्रकार दूसरी आदि नरकपृथिव्यों में से सम्यक्त्व सहित तिर्थीच अथवा मनुष्य में आता नहीं है। जिससे सरणापेक्षा अधोलोक की स्पर्शना बढ़ती नहीं है। इसी तरह कालधर्म प्राप्त कर सम्यक्त्व सहित अनुस्तर विमान-वासी देवभव में जाते अथवा वही से च्यवकर मनुष्य भव में आने पर सर्वोत्कृष्ट सात राजू की स्पर्शना सम्भव है, इससे अधिक नहीं। इस प्रकार कालधर्म प्राप्त कर सम्यक्त्व सहित अन्य गति में जाते एवं आते सात राजू की स्पर्शना सम्भव है। सामान्य रूप से तो अविरत-सम्यग्हटित के भी मिश्रहृष्टि की तरह छाड़ राजू की स्पर्शना सम्भवी चाहिये, अन्य प्रकार से नहीं।

अन्य कितने ही आचार्य अविरतसम्यग्हटित जीव के उत्कृष्ट से नी राजू की स्पर्शना मानते हैं कि क्षायिक सम्यग्हटित जीव क्षायिक सम्यक्त्व को लेकर तीसरी नरकपृथिवी में भी जाते हैं। जिससे अनुस्तर विमानवासी देवभव में जाते अथवा वही से च्यवकर मनुष्यभव में आते समय सात राजू की स्पर्शना होती है और तीसरी नरकपृथिवी में उत्पन्न होने अथवा वही से च्यवकर मनुष्यभव में आने पर दो राजू की स्पर्शना होती है, इस प्रकार सामान्यतया अविरतसम्यग्हटित जीव के नी राजू की स्पर्शना सम्भव है।

**व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती)** भूत्र आदि के मतानुसार तो चतुर्थ गुणस्थान वाले जीवों के बारह राजू की स्पर्शना भी सम्भव है। वह इस प्रकार जानना चाहिये कि अनुस्तर देवभव में जाते अथवा वही से च्यवकर मनुष्यभव में आने पर सात राजू की स्पर्शना होती है तथा बद्धायुक्त अविरतसम्यग्हटित तिर्थीच अथवा मनुष्य क्षायोपशमिक सम्यक्त्व लेकर छठी नरकपृथिवी में नारकरूप से उत्पन्न हो सकता है अथवा क्षायोपशमिक सम्यक्त्वयुक्त नारक वही से च्यवकर मनुष्यभव में उत्पन्न होता है। इससे अविरतसम्यग्हटित छठी नरकपृथिवी में जाते अथवा वही से आते हुए पौच राजू को स्पर्शता है। इस तरह

कुल मिलाकर अविरतसम्यरहृष्टि जीवों के सामान्यतः बारह राजू की स्पर्शना होती है।

इस प्रकार से मिश्रहृष्टि और अस्तित्वसम्परहृष्टि गुणस्थानों की स्पर्शना का विचार करने के बाद अब सासादनगुणस्थान वालों की बारह राजू की स्पर्शना का विचार करते हैं कि—

‘छट्ठाए नेरइओ’ अर्थात् छठी नरकपृथ्वी में वर्तमान कोई नारक<sup>१</sup> अपने भव के अन्त में औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर वहाँ से गिरकर सासादनभाव को प्राप्त होता हुआ काल करे और काल करके तिर्यक अथवा मनुष्य मध्यलोक से ऊपर लोकान्त निष्कुट शेरों में अर्थात् व्रसनाड़ी के अन्त में रहे हुए लोकान्त प्रदेशों में उत्पन्न होते हैं, जिससे उनके सात राजू की स्पर्शना होती है। इस प्रकार कुल मिलाकर सासादन-गुणस्थानवर्ती जीवों के सामान्य से बारह राजू की स्पर्शना सम्भव है।<sup>२</sup>

सासादनभाव को प्राप्त हुए जीवों की प्रायः अधोगति नहीं होती है, जिससे सासादनगुणस्थान को लेकर प्रायः कोई जीव अधोगति में जाते नहीं हैं, जिससे बारह राजू की स्पर्शना का प्रतिपादन किया है। कदाचित् सासादनगुणस्थान वालों की अधोगति भी हो तो अधोलोक के निष्कुटादि में भी उनकी उत्पत्ति संभव होने से चौदह राजू की स्पर्शना संभव है, परन्तु वैसा नहीं होने से बारह राजू को ही स्पर्शना बताई जाती है।

१ सातवीं नरकपृथ्वी का नारक सासादनगुणस्थान को छोड़कर ही तिर्यक में उत्पन्न होता है, इसलिए छठवीं नरकपृथ्वी को ग्रहण किया है।

२ यहाँ एक जीव की अपेक्षा नहीं, किन्तु एक गुणस्थान की अपेक्षा स्पर्शना का विचार किया जा रहा है। जिससे अनेक जीवों की अपेक्षा बारह राजू की स्पर्शना होने में कोई दोष नहीं है।

अब देशविरत आदि शेष गुणस्थानों की स्पर्शना का विचार करते हैं—

उपशमक यानि उपशमश्रेणि पर आखड़ अपूर्वकरण, अनिवृत्ति-वादरसेपराय और सूक्ष्मसंख्याय गुणस्थानवर्ती जीव और उपशांत यानि उपशांतमोहगुणस्थानवर्ती जीव एवं अप्रमत्तविरत और भास्त्रा के द्वासरे पद के अन्त में उल्लिखित 'य-च' शब्द से अप्रमत्तभावाभिमुख प्रमत्तसंयत मुनि, इन सबके अनुगति द्वारा सर्वार्थसिद्धिमान में उत्पन्न होने पर सात राजू की स्पर्शना सम्भव है।

अपकश्रेणि पर आखड़ अपूर्वकरणादि गुणस्थानवर्ती जीव मरण को प्राप्त नहीं करते हैं और न मारणान्तिकसमुद्धात ही प्रारम्भ करते हैं, इसलिये उनके लोक के असंख्यात्में भाग मात्र स्पर्शना चटित होती है, अधिक नहीं। इसी कारण अनेकमोहगुणस्थान की लोक के असंख्यात्में भाग मात्र स्पर्शना बताई है।

**प्रवत**—जब मनुष्यभव की आयु का अय हो और परभव की आयु का उदय हो तब परलोकगमन सम्भव है, उस समय अविरतपना होता है, उपशम आदि भाव नहीं होते हैं। क्योंकि प्रमत्तादि भाव मनुष्यभव के अन्त समय तक ही होते हैं। परभवायु के प्रथम समय में तो अविरतसम्भविट्ठिगुणस्थान होता है, इसलिये सर्वार्थसिद्ध महाविमान में जाते हुए चतुर्थ गुणस्थान की सात राजू की स्पर्शना सम्भव है, अपूर्वकरणादि की सम्भव नहीं है। तो फिर यहीं अपूर्वकरणादि नी सात राजू की स्पर्शना क्यों बताई है?

**उत्तर**—इसमें कोई दोष नहीं है। परभव में जाते यति दो प्रकार से होती है—(१) कंदुकगति, (२) इलिकागति। इनमें से कंदुक (गेंद) की तरह जो गति होती है, उसे कंदुकगति कहते हैं। यानि जैसे गेंद अपने समस्त प्रदेशों का पिंड करके पुर्व के स्थान के साथ सम्बन्ध रखे बिना ऊपर जाती है, उसी तरह कोई जीव भी परभव की आयु का जब उदय होता है, तब परलोक में जाते हुए अपने प्रदेशों को एकत्रित

करके पूर्वस्थान के साथ सम्बन्ध रखे बिना उत्पत्तिस्थान में चला जाता है। केंद्रुकगति करने वाली आत्मा के अपनी आयु के चरण समय पर्यन्त मनुष्यभव और परभवायु के प्रथम समय में देवभव का सम्बन्ध होता है, जिससे केंद्रुकगति करने वाले को अपेक्षा प्रमत्तादि मुण्डस्थान वालों के सात राजू की स्पर्शना नहीं थट्टी है।

दूसरी इल्ली की तरह जो गति है, उसे इलिसकागति कहते हैं। जैसे इल्ली की पूँछ यानि पीछे का भाग जिस स्थान पर होता है, उस स्थान को नहीं छोड़ते हुए मुख यानि अदभाग द्वारा आगे के स्थान को अपना शरीर बढ़ा कर स्पर्श करती है और उसके बाद पिछला भाग सिकोड़ती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जैसे इल्ली पिछले भाग द्वारा पूर्वस्थान का सम्बन्ध छोड़े बिना अपने स्थान से सम्बन्ध करती है और अगले भाग के साथ सम्बन्ध करने के बाद पिछले स्थान का सम्बन्ध छोड़ती है, उसी प्रकार कोई जीव अपने भव के अस्तकाल में अपने प्रदेशों से अजुगति द्वारा उत्पत्तिस्थान का स्पर्श करके परभवायु के प्रथम समय में पूर्व के शरीर का त्याग करता है। इस तरह अपने भव के अन्त समय में कि जिस समय प्रमत्तादि भाव होते हैं—अपने आत्मप्रदेशों द्वारा सर्वर्थसिद्ध महाविभानरूप अपने उत्पत्तिस्थान को स्पर्श करने वाला होने से इलिसकागति की अपेक्षा प्रमत्ता एवं उपशमकादि के सात राजू की स्पर्शना में कोई विरोध नहीं है।

इस तरह अजुगति द्वारा जाते हुए प्रमत्तादि के सात राजू की स्पर्शना सम्भव है, किन्तु वक्तगति से जाते हुए संभव नहीं है। कठोरोंकि अजुगति से जाते हुए अपनी आयु के अन्तिम समय में अपने प्रदेशों के द्वारा उत्पत्तिस्थान का स्पर्श करता है। जिससे उस अन्तिम समय में प्रमत्तादि मुण्डस्थान और सात राजू की स्पर्शना, वे दोनों सम्भव हैं।

वक्तगति से जाने पर दूसरे समय में उत्पत्तिस्थान का स्पर्श करता है कि जिस समय परभव की आयु का उदय होता है। पहले समय मध्य में रहता है, जो पूर्व भवायु का अंतिम समय है। इस प्रकार

पूर्वभव के अन्तिम समय मध्य में और परभवायु के पहले समय उत्पत्ति-स्थान में जाता है। परभवायु के पहले समय में उत्पत्तिस्थान में जाने वाला होने से और उस समय अविरतसम्बरहणिट गुणस्थान होने से वक्रगति से जाते हुए प्रमत्तादि के सात राजू की स्पर्शना संभवित नहीं है।

अब शेष रहे देशविरत गुणस्थान की स्पर्शना बतलाते हैं कि 'पुदेसज्या' इस पद में पुँ पद द्वारा सामान्य से मनुष्य का ग्रहण किया है। इसलिये सामान्य से मनुष्य देशविरत जीव ऋचुगति द्वारा जब बारहवें अच्छुतस्वर्ण में उत्पन्न होता है, तब उसके छह राजू की स्पर्शना घटित होती है। यही मनुष्य को ग्रहण करने का कारण यह है कि तिर्यक सहस्रार नामक आठवें देवलोक तक ही जाते हैं। देशविरत आदि गुणस्थान अपने भव के अन्त समय पर्यन्त ही होते हैं। इसलिये पूर्व में कही गई युक्ति से ऋचुगति से ही जाने पर छह राजू की स्पर्शना देशविरत जीव के संभव है। तिर्यकलोक के मध्यभाग से अच्छुत देवलोक पर्यन्त छह राजू होते हैं, इसलिये देशविरतगुणस्थान-वर्ती जीवों की छह राजू की स्पर्शना बताई है।

इस प्रकार से स्पर्शना-प्ररूपणा जानना चाहिये। अब काल-प्ररूपणा प्रारम्भ करते हैं।

१ देशविरत की स्पर्शना के लिये जीवसमास में बताया है कि देशविरत मनुष्य यहीं से मरकर अच्छुत देवलोक में उत्पन्न होने पर छह राजू की स्पर्श करता है, किन्तु यहीं यह नहीं कहता चाहिए कि देवलोक में उत्पन्न होने वाला वह जीव देव होने से अविरतसम्बरहणिट है, देशविरत नहीं। क्योंकि जो देशविरत जीव ऋचुगति के द्वारा एक समय में देव उत्पन्न होता है, उसकी पूर्वभव की आयु का स्थाय हुआ नहीं एवं पूर्वभव के शरीर का भी सम्बन्ध नहीं छूटा है। जिससे ऋचुगति में पूर्वभव की आयु और पूर्वभव के शरीर का सम्बन्ध होने से वह आत्मा देशविरत ही है। इसी कारण ऋचुगति से जाने पर छह राजू की स्पर्शना बताई है।

## काल-प्रस्तुत्या

काल तीन प्रकार का है—(१) भवस्थितिकाल, (२) कायस्थितिकाल और (३) प्रत्येक गुणस्थानाश्रितकाल। उनमें से भवस्थिति का काल यानि एक अवश्य की आयु। कायस्थितिकाल यानि पृथ्वीकावादि में से मरण करके बारम्बार वहीं उत्पन्न होने का काल। जैसे कि पृथ्वीकाय का जीव अरण प्राप्त कर पृथ्वीकाय हो, पुनः पुनः मरण प्राप्त कर पृथ्वीकाय में जान लेता, इस तरह एक के बाद एक के क्रम से जितने काल पृथ्वीकाय हो, वह काल कायस्थितिकाल कहलाता है। प्रत्येक गुणस्थान एक-एक आत्मा में जितने काल तक रहता है, उसका जो निश्चित समय वह गुणस्थानाश्रितकाल कहलाता है। इनमें से पहले जीवभेदों की भवस्थिति बतलाते हैं।

## भवस्थिति

सत्त्वमपज्ञाणं अन्तमुद्भूतं दुहादि सुहमरणं ।

सेसाख्यि जहाजा भवठिई होइ एमेव ॥३४॥

**शास्त्रार्थ**—सत्त्वम्—सात, अपज्ञाण—अपर्याप्ति की, अन्तमुद्भूत—अन्तमुद्भूति, दुहादि—दोनों ही प्रकार की, सुहमरण—सूक्ष्म जीवों की, सेसाख्यि—जेष जीवों की भी, जहाजा—जघन्य, भवठिई—भवस्थिति, होइ—होती है, एमेव—इसी प्रकार।

**गाथार्थ**—सातों अपर्याप्तक और सूक्ष्म पर्याप्ति की दोनों ही प्रकार की आयु अन्तमुद्भूत तथा जेष जीवों की भी जघन्य भवस्थिति इसी प्रकार है।

**चिह्नोदार्थ**—गाथा में मुख्यरूप से चौदह जीवभेदों की जघन्य भवस्थिति को बतलाया है कि—

‘सत्त्वमपज्ञाणं’ अर्थात् सूक्ष्म बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, प्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, असंज्ञी, संज्ञी चतुरिन्द्रिय रूप सातों लक्षित-अपर्याप्तक जीवों की तथा सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तिकों की जघन्य और उल्कुष्ट दोनों प्रकार की एक भवस्थिति आयु का प्रभाग अन्तमुद्भूत है। वे

अन्तमुँहर्त मात्र ही जीते हैं। लेकिन इतना विशेष है कि जधन्य से उत्कृष्ट अन्तमुँहर्त बढ़ा है तथा शेष बादर एकेन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, असज्जी पंचेन्द्रिय और संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्तिकों की जधन्य आयु अन्तमुँहर्त प्रमाण होती है और वह दो सौ छप्पन आदलिका से अधिक ही होती है।

इस प्रकार से अपर्याप्तिकों की पूर्व सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्तिक की जधन्य व उत्कृष्ट भवस्थिति का प्रमाण बतलाने के बाद अब पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय आदि की उत्कृष्ट आयु (भवस्थिति) का प्रमाण बतलाते हैं—

**बाबीससहस्राङ् बारस वासाङ् अडणपञ्चदिण। ।**

**छम्मास पुच्चकोऽदी तेसीसप्तराङ् उषकोसा ॥३५॥**

**शब्दार्थ—**बाबीससहस्राङ्—बाईस हजार, बारस—बारह, वासाङ्—वर्ष, अडणपञ्चदिण—उनचास दिन, छम्मास—छह मास, पुच्चकोऽदी—पूर्वकीटि वर्ष और तेसीस सापरोपम की उत्कृष्ट आयु है।

**गाथार्थ—**(बादर) एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्ति की क्रमशः बाईस हजार वर्ष, बारह वर्ष, उनचास दिन, छह मास, पूर्वकीटि वर्ष और तेसीस सापरोपम की उत्कृष्ट आयु है।

**विशेषार्थ—**पूर्व गाथा में चौदह जीवमेदों में से पर्याप्त बादर एकेन्द्रियादि की जधन्य आयु का प्रमाण बतलाया है। अब यही सूक्ष्म एकेन्द्रिय पर्याप्ति को छोड़कर शेष बादर एकेन्द्रिय आदि पर्याप्ति जीवों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण बतलाते हैं कि पर्याप्ति बादर एकेन्द्रिय आदि का बाईस हजार आदि संख्या पदों के साथ अनुक्रम से इस प्रकार सम्बन्ध करना चाहिये—

पर्याप्ति बादर एकेन्द्रिय की उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष की है। किन्तु वह आयु पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय एकेन्द्रिय की अपेक्षा जानना चाहिये। जलकाय आदि शेष एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा नहीं। वयोंकि शेष एकेन्द्रिय जीवों की इतनी दीर्घ आयु नहीं होती है। बादर पर्याप्ति पृथ्वीकाय की उत्कृष्ट आयु बाईस हजार वर्ष, बादर पर्याप्ति जलकाय

की सात हजार वर्ष, बादर पर्याप्त लेजस्काय की तीन दिन-रात, पर्याप्त बादर बायुकाय की तीन हजार वर्ष और पर्याप्त बादर प्रत्येक उनस्पतिकाय की उल्कृष्ट आयु दस हजार वर्ष प्रमाण है।<sup>१</sup> अतएव पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय की बाईस हजार वर्ष की उल्कृष्ट आयु बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय की अपेक्षा से ही घटित होती है, और दूसरे एकेन्द्रिय जीवों की अपेक्षा नहीं।

पर्याप्त द्वीन्द्रिय की उल्कृष्ट आयु बारह वर्ष की है। पर्याप्त श्रीन्द्रिय की उनचास दिन की और पर्याप्त चतुर्वैन्द्रिय की उल्कृष्ट आयु छह मास की है तथा पर्याप्त असंजी पंचेन्द्रिय की उल्कृष्ट आयु पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण है, जो पर्याप्त संमूचितम् जलचर की अपेक्षा से जानना चाहिये, परन्तु संमूचितम् स्थलचर आदि की अपेक्षा से नहीं। क्योंकि उनकी उल्कृष्ट आयु इतनी नहीं होती है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

पर्याप्त संमूचितम् जलचर की उल्कृष्ट आयु पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण, पर्याप्त संमूचितम् चतुष्पद स्थलचर की औरासी हजार वर्ष, पर्याप्त संमूचितम् उरपरिसर्प की त्रेपन हजार वर्ष, पर्याप्त संमूचितम् भुजपरिसर्प की वियालीस हजार वर्ष और पर्याप्त संमूचितम् चिचर की बहतर हजार वर्ष की उल्कृष्ट आयु होती है। इस प्रकार संमूचितम् पर्याप्त जलचर की अपेक्षा से ही पर्याप्त असंजी पंचेन्द्रिय की पूर्वकोटि वर्ष प्रमाण आयु घटित होती है, अन्य संमूचितम् स्थलचर आदि की अपेक्षा से नहीं।

पर्याप्त संजी पंचेन्द्रिय की उल्कृष्ट भवस्थिति लेतीस सामरोपम है और वह अनुसार विमानबासी देव अथवा सालवी नरकपृथ्वी के नारक की अपेक्षा जानना चाहिये, अन्य संजी जीवों की अपेक्षा नहीं। क्योंकि

१ इसी प्रकार से दिग्भवर साहित्य में भी पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय आदि और भवस्थिति बतलाई है। देखो—मूलाभार गाथा ११०५-१११।

अन्य संज्ञो जीवों की इतनी भवस्थिति नहीं होती है। वह इस प्रकार है—

संज्ञो जीवों के चार प्रकार हैं—नारक, तिर्यच, मनुष्य और देव। सात उत्कृष्टवी के भेद से नारक सात प्रकार के हैं। उनमें से (१) सात उत्कृष्टवी के नारक की जघन्य आयु दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट एक सागरोपम, (२) शक्तराप्रभा के नारक की जघन्य आयु एक सागरोपम, उत्कृष्ट तीन सागरोपम, (३) बालुकाप्रभा के नारक की जघन्य आयु तीन सागरोपम, उत्कृष्ट नात सागरोपम, (४) पंकप्रभा के नारक की जघन्य आयु सात सागरोपम, उत्कृष्ट दस सागरोपम, (५) धूमप्रभा के नारक की जघन्य आयु दस सागरोपम, उत्कृष्ट सत्रह सागरोपम की, (६) तमःप्रभा के नारक की जघन्य आयु सत्रह सागरोपम, उत्कृष्ट बाईस सागरोपम और (७) सातवीं पृथ्वी महात्मप्रभा के नारक की जघन्य आयु बाईस सागरोपम और उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम प्रमाण है।

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यच के पांच भेद हैं—जलचर, चतुष्पद, उरपरिसर्प, भुजपरिसर्प और खेचर। इनमें से जलचर तिर्यचों की उत्कृष्ट आयु पूर्वकोटि वर्ष की है, चतुष्पद स्थलचर की तीन पल्योपम की, उरपरिसर्प स्थलचर की पूर्वकोटि वर्ष और खेचर की उत्कृष्ट आयु पल्योपम के असंख्यातवें आग प्रमाण है।<sup>१</sup>

संज्ञी पञ्चेन्द्रिय पर्याप्त मनुष्यों की उत्कृष्ट भवस्थिति तीन पल्योपम प्रमाण है।

देव चार प्रकार के हैं—भवनपति, व्यंतर, व्योतिष और वैमानिक। इनमें से भवनपति दस प्रकार के हैं—असुरकुमार, नागकुमार, विद्युत-

<sup>१</sup> गवाभि पूर्वकोटी तिनि य पलिओवमादं परमादं।

उरभूयग पूर्वकोटी पलिभीवमभसंखभागो य॥

कुमार, सुपर्णकुमार, अभिनकुमार, वायुकुमार, स्तनितकुमार, उद्दिकुमार, द्वीपकुमार, और दिक्कुमार। ये दसों भवनपति दो-दो प्रकार के हैं—(१) मेहरबन्त के दक्षिणार्ध भाग में रहने वाले और (२) मेहरबन्त के उत्तरार्ध भाग में रहने वाले। दक्षिणार्ध भाग में रहने वाले असुरकुमारों को उत्कृष्ट आयु एक सावरोपम और उत्तरार्ध भाग में रहने वाले नागकुमार आदि नौ भवनपति देवों की उत्कृष्ट आयु डेढ़ पल्योपम और उत्तरार्ध में रहने वालों की उत्कृष्ट आयु देशोन दो पल्योपम की है तथा दक्षिणार्धवर्ती असुरकुमारों के स्वामी चमरेन्द्र की देवियों की उत्कृष्ट आयु साड़े तीन पल्योपम की और उत्तरवर्ती असुरकुमारों के स्वामी बलोन्द्र की देवियों की उत्कृष्ट आयु साड़े चार पल्योपम की है तथा दक्षिणदिव्यवर्ती नागकुमार आदि नौ निकायों की देवियों की उत्कृष्ट आयु डेढ़ पल्योपम है और उत्तरदिव्यवर्ती नौ निकाय की देवियों की उत्कृष्ट आयु देशोन दो पल्योपम की है<sup>१</sup>। इन्द्र-इन्द्राणी की जो उत्कृष्ट आयु कही है, वह समस्त देव-देवियों के लिये भी समझना चाहिये तथा समस्त भवनपति देव-देवियों की जगत्स्य आयु दस हजार वर्ष प्रमाण है।

व्यंतर आठ प्रकार के हैं—पिशाच, भूत, वक्ष, राक्षस, किनर, किपुरुष, महोरग और गंधर्व। इन आठों प्रकार के व्यंतरों की उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम और जगत्स्य आयु दस हजार वर्ष प्रमाण है तथा व्यंतरी की जगत्स्य आय दस हजार वर्ष और उत्कृष्ट आयु अर्ध पल्योपम है।

१ तस्वार्थशिगम सूत्र ४/३१ में पौने दो पल्य की बताई है।

२ बृहस्पतिहिणी, गाथा ४ में दक्षिणदिव्यवर्ती नागकुमार आदि नौ निकायों की देवियों की उत्कृष्ट आयु अर्ध पल्योपम और उत्तरवर्ती देवियों की उत्कृष्ट आयु देशोन एक पल्योपम बताई है।

ज्योतिषिक देवों के पांच मैद हैं—चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारा। हनमें से चन्द्र विमानवासी देवों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु एक लाख वर्ष अधिक एक पल्योपम है तथा देवियों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु पश्चास हजार वर्ष अधिक अर्ध पल्योपम प्रमाण है।

सूर्य विमानवासी देवों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु एक हजार वर्ष अधिक एक पल्योपम तथा देवियों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु पांच सौ वर्ष अधिक अर्ध पल्योपम प्रमाण है।

ग्रह विमानवासी देवों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु एक पल्योपम तथा देवियों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु अर्ध पल्योपम प्रमाण है।

नक्षत्र विमानवासी देवों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु अर्ध पल्योपम है तथा देवियों की जघन्य आयु पल्योपम का चतुर्थ भाग और उत्कृष्ट आयु कुछ अधिक पल्योपम का चौथा भाग है।

तारा विमानवासी देवों की जघन्य आयु पल्योपम का आठवाँ भाग और उत्कृष्ट आयु पल्योपम का चौथा भाग एवं देवियों की जघन्य आयु पल्योपम का आठवाँ भाग और उत्कृष्ट साधिक पल्योपम का आठवाँ भाग है।

वैमानिक देव दो प्रकार के हैं—(१) कल्पोपम और (२) कल्पातीत। उनमें से बारह देवलोक में उत्पन्न हुए स्वामी-सेवक की मर्यादा वाले देव कल्पोपम और स्वामी-सेवक की मर्यादा रहित ग्रन्थेयक और अनुत्तर विमान के देव कल्पातीत कहलाते हैं।

कल्पोपम देवों में से सौधर्म देवलोक के देवों की जघन्य आयु एक पल्योपम और उत्कृष्ट आयु दो साहस्रोपम की है। परिगृहीत—किसी एक देव द्वारा ग्रहण की हुई देवी की जघन्य आयु पल्योपम और

उत्कृष्ट सात पल्योपम की है। अपरिगृहीत—किसी भी देव द्वारा प्रहृण नहीं की हुई देवी की जघन्य आयु पल्योपम की और उत्कृष्ट आयु द्वास पल्योपम की होती है।

हिंसान देवलोक में देवी की जघन्य आयु साधिक एक पल्योपम की और उत्कृष्ट आयु साधिक दो सागरोपम की। परिगृहीत देवी की जघन्य आयु साधिक पल्योपम की और उत्कृष्ट नी पल्योपम की है एवं अपरिगृहीत देवी की जघन्य आयु साधिक पल्योपम की और उत्कृष्ट आयु पचन पल्योपम की है।

सनत्कुमार देवलोक में जघन्य आयु दो सागरोपम की और उत्कृष्ट आयु सात सागरोपम की, माहेन्द्र देवलोक में जघन्य आयु साधिक दो सागरोपम, उत्कृष्ट आयु साधिक सात सागरोपम, इहु देवलोक में जघन्य आयु सात सागरोपम, उत्कृष्ट आयु दस सागरोपम, लालक देवलोक में जघन्य आयु दस सागरोपम, उत्कृष्ट आयु चौदह सागरोपम, महाशुक्र देवलोक में जघन्य आयु चौदह सागरोपम, उत्कृष्ट आयु सत्रह सागरोपम, सहस्रार देवलोक में जघन्य आयु सत्रह सागरोपम, उत्कृष्ट आयु अठारह सागरोपम, आनत देवलोक में जघन्य आयु अठारह सागरोपम, उत्कृष्ट उन्नीस सागरोपम, प्रणत देवलोक में जघन्य आयु उन्नीस सागरोपम, उत्कृष्ट बीस सागरोपम, आरण देवलोक में जघन्य आयु बीस सागरोपम, उत्कृष्ट इक्कीस सागरोपम, अच्युत देवलोक में जघन्य आयु इक्कीस सागरोपम, उत्कृष्ट बाईस सागरोपम की जानना चाहिये।

सौधम से लेकर अच्युत देवलोक पर्यन्त बारह देवलोकों में स्वामी-सेवक की कल्पना होती है। इसके आगे के देवलोक कल्पातीत कहलाते हैं। इन कल्पातीत देवलोकों में से अधस्तन-अधस्तन ग्रंथेयक के विमानों के देवी की जघन्य आयु बाईस सागरोपम, उत्कृष्ट तेईस सागरोपम, अधस्तन-मध्यम ग्रंथेयक में जघन्य तेईस सागरोपम, उत्कृष्ट चौबीस सागरोपम, अधस्तन-उपरितन ग्रंथेयक के देवी की जघन्य आयु चौबीस सागरोपम की ओर उत्कृष्ट पञ्चवीस सागरोपम, मध्यम-अधस्तन ग्रंथेयक

में जघन्य पच्छीस सागरोपम, उत्कृष्ट छब्बीस सागरोपम, मध्यम-मध्यम ग्रीवेयक में जघन्य छब्बीस सागरोपम, उत्कृष्ट सत्ताईस सागरोपम, मध्यम-उपरितन ग्रीवेयक में जघन्य आयु सत्ताईस सागरोपम, उत्कृष्ट अद्वाईस सागरोपम को, उपरितन-अधस्तन ग्रीवेयक में जघन्य अद्वाईस सागरोपम की, उत्कृष्ट उनतीस सागरोपम की, उपरितन-मध्यम ग्रीवेयक में जघन्य उनतीस सागरोपम और उत्कृष्ट तीस सागरोपम, उपरितन-उपरितन ग्रीवेयक में जघन्य तीस सागरोपम, उत्कृष्ट इकतीस सागरोपम की आयु होती है।

पांच अनुत्तर विमानों में से विजय, वैजयन्त, जयन्त और अपरा-जित, इन चार अनुत्तर विमान के देवों की जघन्य आयु इकतीस सागरोपम, उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम<sup>१</sup> और सर्वार्थसिद्ध महाविमान के देवों की अजघन्योत्कृष्ट अथवा जघन्य और उत्कृष्ट ऐसे भैद के स्थिति विना एक जैसी तेतीस सागरोपम प्रमाण आयु होती है।

इस प्रकार सातवीं नरकपृथकी के नारकों और अनुत्तर विमानवासी देवों को छोड़कर अन्यत्र तेतीस सागरोपमप्रमाण आयु नहीं होती है, इसीलिये उनकी (सातवीं नरक के नारकी और सर्वार्थसिद्ध विमान के देव की) अपेक्षा ही संज्ञी पञ्चमित्रिय पर्याप्तक जीवों की उत्कृष्ट भव-तेतीस सागरोपमप्रमाण जानना चाहिये<sup>२</sup>।

इस प्रकार से भवस्थिति काल का विचार करने के बाद अब एक जीव के प्रत्येक गुणस्थान में रह सकने के काल को बतलाते हैं।

### मिथ्यास्त्वगुणस्थान का काल

होइ अणाइ अणांतो अणाइ संतो य साइसंतो य ।

देसूणवोगालम्<sup>३</sup> अंतमुहुसं चरिष्मिच्छो ॥३६॥

१ तत्त्वार्थविगमसूत्र ४।३६ में तथा उसके भाष्य में विजयादि चार की उत्कृष्ट आयु ३२ सागरोपम है।

२ प्रजापतासूत्र में आमत भवस्थिति का वर्णन परिशिष्ट में देखिये।

**शब्दार्थ** — होड़ — है, अणाइ — अनादि, अणतो — अनन्त, अणाहसंतो — अनादि-सांत, य — और, साइसंतो — सादि-सांत, य — और, देशीन, कुछ कम, पोष्टलहौ — अर्थ पुद्यगलपरावर्तन, अन्तमुहर्स — अन्तमुहूर्त, चरित — अंतिम, विलङ्घो — मिथ्याहस्ति ।

**गाथार्थ** — मिथ्याहस्तिगुणस्थान का स्थितिकाल अनादि-अनन्त, अनादिसांत और सादि-सांत, इस तरह तीन प्रकार का है । उनमें से अन्तिम (सादि-सांत काल वाला) मिथ्याहस्ति उल्कृष्ट से देशीन अर्थ पुद्यगलपरावर्तन और जघन्य से अन्तमुहूर्त होता है ।

**विशेषार्थ** — गाथा में एक जीव की अपेक्षा मिथ्याहस्तिगुणस्थान के काल का विचार किया है । काल की अपेक्षा मिथ्याहस्ति तीन प्रकार के होते हैं—(१) अनादि-अनन्त, (२) अनादि-सांत और, (३) सादि-सांत । इनमें से अवश्य की अपेक्षा और जो कभी भी मरण जाने वाले नहीं हैं ऐसे जीवों को अपेक्षा अनादि-अनन्त स्थितिकाल है । इसका कारण यह है कि वे अनादिकाल से लेकर आगामी सम्पूर्ण काल पर्यन्त मिथ्याहस्तिगुणस्थान में ही रहने वाले हैं ।

जो भव्य अनादिकाल से मिथ्याहस्ति है, परन्तु अविद्य में अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करेंगे, उन मिथ्याहस्तियों की अपेक्षा अनादि-सांत काल है ।

जो जीव तथाभव्यत्वभाव के परिपाक के बश सम्यक्त्व प्राप्त करके किसी कारण से गिरकर मिथ्यात्व का अनुभव करते हैं, परन्तु कालान्तर में अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करेंगे, ऐसे मिथ्याहस्ति जीवों की अपेक्षा सादि-सांत काल घटित होता है । क्योंकि ऐसी आत्माओं ने सम्यक्त्व प्राप्त करने के बाद गिरकर मिथ्यात्वगुणस्थान प्राप्त किया है, इसलिये सादि तथा कालान्तर में अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करेंगी, तब मिथ्याहस्तिगुणस्थान का अन्त होगा, इसलिये सांत ।

सादि-सांत काल वाला यह मिथ्याहस्ति जघन्य से अन्तमुहूर्त पर्यन्त होता है । क्योंकि सम्यक्त्व से गिरकर मिथ्यात्व में आकर पुनः

अन्तमुहूर्त द्वारा में ही सम्यक्त्व प्राप्त हो सकता है और उत्कृष्ट से कुछ कम अर्ध पुद्गलपरावर्तनकाल पर्यन्त होता है। क्योंकि सम्यक्त्व से गिरा हुआ जीव अधिक से अधिक देशोन अर्ध पुद्गलपरावर्तन के अन्त में अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करता है। इसी कारण मिथ्याहृष्टि का सादि-अन्तकाल काल नहीं होता है। क्योंकि मिथ्यात्मगुणस्थान का जब सादित्व होता है तब उत्कृष्ट से किंचित् न्यून अर्ध पुद्गलपरावर्तन के अन्त में अवश्य सम्यक्त्व प्राप्त करके मिथ्यात्म का अन्त करता है, अन्तकाल तक मिथ्यात्म में नहीं रहता है।

सादि-सांत मिथ्यात्म का उत्कृष्ट काल देशोन अर्ध पुद्गलपरावर्तन बताया है। अतः अब पुद्गलपरावर्तन का वर्णन करते हैं।

### पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप और भेद

**पीमालपरिषट्टो इह वस्त्राह चउच्चिहो मुणेयत्वो ।**

**एकेको पुण बुधिहो बायरसुहुमतभेषणं ॥३७॥**

**शास्त्रार्थ—**पीमालपरिषट्टो—पुद्गलपरावर्तन, इह...यहाँ, वस्त्राह—द्रव्यादि के भेद से, चउच्चिहो—चार प्रकार का, मुणेयत्वो—जानना चाहिये, एकेको—एक-एक, पुण—पुनः किर, बुधिहो—दो प्रकार का, बायरसुहुमत-भेषण—बादर और सूक्ष्म के भेद से।

**शास्त्रार्थ—**यहाँ पुद्गलपरावर्तन द्रव्यादि के भेद से चार प्रकार का जानना चाहिये तथा एक-एक (प्रत्येक) बादर और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार का है।

**विशेषार्थ—**गाथा में पुद्गलपरावर्तन के भेद और उन भेदों के भी अन्य प्रकारों का निर्देश किया है कि पुद्गलपरावर्तन द्रव्य, शेष, काल और भाव के भेद से चार प्रकार का है। अतएव उनके नाम इस प्रकार जानना चाहिये—(१) द्रव्य पुद्गलपरावर्तन, (२) शेष पुद्गल-परावर्तन, (३) काल पुद्गलपरावर्तन और (४) भाव पुद्गलपरा-वर्तन। ये प्रत्येक बादर और सूक्ष्म के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। यथा—बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तन, सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन। इसी प्रकार प्रत्येक के भेद जानना चाहिये।

अब अनुक्रम से इन खारीं का वर्णन करते हैं ।

### द्वय पुद्गलपरावर्तन

सर्वप्रथम बादर और सूक्ष्म द्वय पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप कहते हैं—

**संसारमि अडंतो जीव य कालेष फुसिय सखाण् ।**

**इगु जीवु मुष्टि बाधर अन्नयरतणुद्विओ सुहुमो ॥३८॥**

**शब्दार्थ—**संसारमि—संसार में, अडंतो—परिभ्रमण करता हुआ, जीव—जितने, य—और, कालेष—काल छारा, फुसिय—स्पर्श करके, सखाण्—समस्त अणुओं को, इगु—एक, जीवु—जीव, मुष्टि—छोड़ता है, बाधर—बादर, अन्नयरतणुद्विओ—अन्यतर शरीर में रहते हुए सुहुमो—सुक्ष्म।

**गाथार्थ—**संसार में परिभ्रमण करता हुआ कोई जीव जितने काल में समस्त अणुओं को (बीदारिकादि शरीर रूप में) स्पर्श करके छोड़ता है, उतने काल को बादर द्वय पुद्गलपरावर्तन कहते हैं और किसी अन्यतर (किसी भी एक) शरीर में रहते हुए समस्त अणुओं को जितने काल में स्पर्श करे, उस काल को सूक्ष्म द्वय पुद्गलपरावर्तन कहते हैं ।

**विशेषार्थ—**गाथा में पुद्गलपरावर्तन के चार भेदों में से बादर, सूक्ष्म द्वय पुद्गलपरावर्तनों का स्वरूप बतलाया है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'संसारमि अडंतो' अर्थात् कर्मवशात् जीव जिसके अन्दर परिभ्रमण करें, भटकें, उस चौदह राजूप्रभाण क्षेत्र को संसार कहते हैं । इस संसार में परिभ्रमण करता हुआ कोई एक जीव सम्पूर्ण चौदह राजूलोक में जो परमाण हों, उनको जितने काल में स्पर्श करके छोड़ दे, यानि कि बीदारिकादि रूप में परिणमित-परिणमित करके छोड़ दे, उतने कालविशेष को बादर द्वय पुद्गलपरावर्तन कहते हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि जितने काल में एक जीव जगत् में विद्यमान समस्त परमाणुओं को यथायोग्य रीति से बीदारिक, वंक्रिय, तंजस्, भाषा, इवासोच्छ्वास, मन और कार्मण इन सातीं रूप में से किसी न

किसी तरह से परिणत करके छोड़ दे, उतने कालविशेष को बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।

इस प्रकार से बादर द्रव्य पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाने के बाद अब सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन का प्रश्नरूप बतलाते हैं—

‘अन्नयरतण्डुओं सुहृष्टों’ अर्थात् औदारिक आदि शरीर में से किसी एक शरीर में रहते हुए संसार में परिभ्रमण करने वाला जीव जितने काल में जगद्वर्ती समस्त परमाणुओं को उसी शरीर रूप से स्पर्श (ग्रहण) करके छोड़ दे, उतने कालविशेष को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गल-परावर्तन कहते हैं।

इसका तात्पर्य यह है कि जितने काल में लोकाकाश में विद्यमान समस्त परमाणुओं के औदारिक आदि इन से जिसी भी प्रिविलेज एक शरीर में परिणत करके छोड़ने में जितना काल हो, उतने काल को सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।

इस प्रकार से सूक्ष्म द्रव्य पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप जानना चाहिये।

यद्यपि बादर और सूक्ष्म दोनों द्रव्य पुद्गलपरावर्तनों में ग्रहण योग्य औदारिक आदि वर्गणाओं के पुद्गलों को ग्रहण किया जाता है, लेकिन इन दोनों (बादर और सूक्ष्म) में इतना विशेष है कि बादर में औदारिक, वैक्रिय आदि के जगद्वर्ती समस्त परमाणुओं को जिस किसी भी रूप में परिणत करे, वह उनका परिणाम माना जाता है और सूक्ष्म में औदारिक रूप में परिणत करते हुए वह बीच में वैक्रिय रूप से परिणत करने लगे तो उनका उस रूप में परिणाम नहीं गिना जाता है। किन्तु काल गिन लिया जाता है।

बादर में तो किसी न किसी प्रकार से जगद्वर्ती समस्त परमाणुओं को आहारके<sup>१</sup> को छोड़कर औदारिक आदि कार्मण वर्गणा पर्यन्त

<sup>१</sup> यहीं आहारकशरीर को ग्रहण न करने का कारण यह है कि आहारकशरीर एक जीव के अधिक से अधिक बार बार हो सकता है। अतः वह पुद्गल-परावर्तन के योग्य नहीं है।

सात रूपों में परिणत करना द्वय पुद्गलपरावर्तन माना जाता है और सूक्ष्म में किसी भी एक रूप में परिणत करना होता है। सूक्ष्म द्वय पुद्गलपरावर्तन में विवक्षित एक शरीर के सिवाय यदि अन्य शरीर के रूप में परिणत कर करके जिन पुद्गलों को छोड़ा जाता है, उनको नहीं मिलते हैं। परन्तु सुदीर्घकाल में भी विवक्षित एक शरीर रूप में जब जगद्वर्ती परमाणुओं को परिणत करे, तब उसका परिणाम मिला जाता है। काल तो प्रारम्भ से अंत तक का मिला ही जाता है।

इस प्रकार से बादर और सूक्ष्म द्वय पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप जानना चाहिये।<sup>१</sup> अब बादर और सूक्ष्म के पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप कहते हैं।

१ : बादर और सूक्ष्म द्वय पुद्गलपरावर्तन के बारे में अधिक या सारांश यह है कि औदारिक आदि आठ प्रहणयोग्य वर्णणाओं में से आहारक शरीरवर्णणों की छोड़कर शेष वर्णणाओं के समस्त परमाणुओं को जितने समय में एक जीव औदारिकादि कार्यण शरीर पर्यन्त परिणत कर (भोक्कर) छोड़ देता है, उसे बादर द्वय पुद्गलपरावर्तन कहते हैं और जिसने समय में समस्त परमाणुओं को औदारिक आदि सात वर्णणाओं में से किसी एक वर्णण रूप परिणमात्कर उन्हें प्रहण कर छोड़ देता है, उसने समय के सूक्ष्म द्वय पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।

यही इतना विषेष जानना चाहिए कि यदि औदारिक शरीर रूप से परमाणुओं को परिणमाना प्रारम्भ किया है और उसके मध्य-मध्य में कुछ परमाणुओं को वैकिय आदि शरीर रूप प्रहण करके छोड़ दे तो उनको मणना में नहीं लिया जाता है। अथवा जिस शरीर रूप परिवर्तन प्रारम्भ हुआ था, उसी शरीर रूप जो पुद्गल परमाणु प्रहण करके छोड़ जाते हैं, उन्हीं को सूक्ष्म में प्रहण किया जाता है तथा जिन पुद्गलों को एक बार प्रहण करके छोड़ दिया हो, उनको पुनः प्रहण किया जाये या मिश्र प्रहण किया जाये तो उनको स्पर्शना प्रहण नहीं की जाती है। परन्तु जिनको प्रहण नहीं किया था, उनको प्रहण करके परिणत करके छोड़ दे, उसकी स्पर्शना मिली जाती है।

## क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन

लोगस्स पएसेसु अण्टरपरंपराविभृतीहि ।  
खेत्तमि बायरो सो सुहमो उ अण्टरमयस्स ॥३८॥

**शब्दार्थ**—लोगस्स—लोकाकाश के, पएसेसु—प्रदेशों में, अण्टरपरंपराविभृतीहि—अनन्तर या परम्परा विधि—प्रकार से, खेत्तमि—क्षेत्र में, बायरो—वादर, सो—वह, सुहमो—सूक्ष्म, उ—और, अण्टरमयस्स—अनन्तर प्रकार से मरते हुए ।

**गाथार्थ**—अनन्तर या परम्परा प्रकार से लोकाकाश के प्रदेशों में मरण को प्राप्त होते हुए जीव को जितना काल होता है, उसे बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन कहते हैं और अनन्तर प्रकार से मरते जीव को जितना काल होता है, वह सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन कहलाता है ।

**विशेषार्थ**—गाथा में बादर और सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बताया है । उनमें से बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप इस प्रकार है—

जीदह राजु प्रमाण ऊंचे लोकाकाश के प्रदेशों में अनन्तर प्रकार से यानि क्रमपूर्वक—एक के अनन्तर एक आकाश प्रदेशों में मरण को प्राप्त होते हुए अथवा परम्परा प्रकार से अक्रमपूर्वक—क्रम के सिवाय आकाश प्रदेश को स्पर्श करके मरण को प्राप्त होते हुए एक जीव को जितना काल होता है, उतने काल को बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन कहते हैं । तात्पर्य यह है कि जितने काल में एक जीव लोकाकाश के समस्त आकाश प्रदेशों को क्रम से या अक्रम से—बिनाक्रम के मरण द्वारा स्पर्श करता है, उतने काल को बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन कहते हैं ।

सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिए—

चौदह राजू प्रमाण लोक के समस्त प्रदेशों में किसी एक जीव को क्रमपूर्वक—एक के बाद एक, इस तरह के क्रम से एक-एक आकाशप्रदेश का स्पर्श कर मरण को प्राप्त होते हुए जितना काल होता है, उतने को सूक्ष्म औ त्रि पुद्गलपरावर्तन कहते हैं। जिसका आशय यह है कि यद्यपि जीव की जघन्य अवगाहना भी असंख्य आकाशप्रदेश-प्रमाण होती है, जिससे एक आकाशप्रदेश का स्पर्श कर मरण संभव नहीं है, लेकिन जिस समय उस के के किसी भी एक आकाशप्रदेश सम्बन्धी स्पर्शना की विवक्षा करके उसको अवधिरूपमानना चाहिये। तत्पश्चात् उस आकाशप्रदेश से अन्य भाग में रहे हुए आकाश प्रदेशों को मरण द्वारा स्पर्श करे तो उसको गिना नहीं जाता है, परन्तु अनन्तकाल में उस मयदा रूप एक आकाशप्रदेश के निकटवर्ती दूसरे आकाशप्रदेश को मरण द्वारा स्पर्श करे तब वह स्पर्शना गिनी जाती है। इसी प्रकार उसके निकटवर्ती लीसरे आकाशप्रदेश का स्पर्श करके जितने काल में मरण को प्राप्त करे वह गिना जाता है। इस प्रकार क्रमपूर्वक लोक-काश के समस्त आकाश प्रदेशों को मरण द्वारा स्पर्श करते जितना काल हो, उसे सूक्ष्म औ त्रि पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।<sup>१</sup>

इस प्रकार से बादर, सूक्ष्म औ त्रि पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाने के बाद अब यथाक्रम से बादर और सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाते हैं।

<sup>१</sup> इन शब्दों के त्रि पुद्गलपरावर्तनों में केवल इतना अन्तर है कि बादर में तो क्रम का विभार नहीं किया जाता है। उसमें अवधित प्रदेश में मरण करने पर भी यदि वह प्रदेश पूर्वसूष्टि नहीं है तो उसका शहण होता है। अर्थात् बादर क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन में क्रम का विभार क्रम के समस्त प्रदेशों में मरण कर लेना ही पर्याप्त समझा जाता है किन्तु सूक्ष्म में समस्त प्रदेशों में क्रम से ही मरण करना चाहिए, अक्षम से जिन प्रदेशों में मरण होता है, उनकी गणना नहीं की जाती है। पहले से दूसरे में अधिक समय लगता है।

## काल पुद्गलपरावर्तन

उत्सप्तिष्ठिसमएसु अण्टरपरंपराविभृतीहि ।

कालमिम्ब बायरो सो सुहमो उ अण्टरस्यस्त ॥१२०॥

**शब्दार्थ—** उत्सप्तिष्ठिसमएसु—उत्सप्तिष्ठी (वीर अवसर्पिणी) के समयों को, अण्टरपरंपराविभृतीहि—अनन्तर और परम्परा प्रकार से, कालमिम्ब—काल में, बादर—बादर, सो—वह, सुहमो—सूक्ष्म, उ—और, अण्टरस्यस्त—अनन्तर प्रकार से मरते हुए ।

**गांधार्थ—** अनन्तर वथवा परम्परा प्रकार से उत्सप्तिष्ठी और अवसर्पिणी के समयों को मरण द्वारा स्पर्श करते हुए जितना काल होता है, उसे बादर काल पुद्गलपरावर्तन कहते हैं और अनन्तर प्रकार से— एक के बाद एक समयों को मरण द्वारा स्पर्श करते जितना काल होता है, उसे सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन कहते हैं ।

**विशेषार्थ—** इव्य और जीव पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाने के बाद अब यहाँ काल पुद्गलपरावर्तन का विचार करते हैं । इसके भी बादर और सूक्ष्म वह दो भेद हैं । उनमें से पहले बादर काल पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाते हैं—

‘उत्सप्तिष्ठीसमएसु’ अर्थात् उत्सप्तिष्ठी के ग्रहण से अवसर्पिणी का भी उपलक्षण से ग्रहण करके यह अर्थ करना चाहिये कि उत्सप्तिष्ठी और अवसर्पिणी काल के समस्त समयों में अनन्तर प्रकार से और परम्परा से मरण को प्राप्त करते हुए जीव की जितना काल होता है, उतने को काल बादर पुद्गलपरावर्तन कहते हैं । यानि जितने काल में एक जीव उत्सप्तिष्ठी और अवसर्पिणी के सर्व समयों को क्रम या अक्रम से मरण द्वारा स्पर्श करे अर्थात् येनक्रेन प्रकारेण समस्त समयों में मरण प्राप्त करे, उतने काल को बादर काल पुद्गलपरावर्तन कहते हैं ।

अब सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाते हैं—

उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के सभस्त समयों में से उत्सर्पिणी के प्रथम समय से प्रारम्भ करके तत्पश्चात् क्रमपूर्वक मरण को प्राप्त करके जितना काल जाये उसे सूक्ष्म काल पुदगलपरावर्तन कहते हैं। इसका विशेष स्थलीकरण इस प्रकार है कि कोई जीव उत्सर्पिणी के प्रथम समय में मरण को प्राप्त हुआ, तत्पश्चात् वही जीव समय न्यून द्विस कोडाकोडी सागरोगम प्रमाण काल व्यतीत होने के बाद यदि उत्सर्पिणी के दूसरे समय में मरण को प्राप्त हो तो वह दूसरा समय मरण से स्पर्श किया गया माना जायेगा। यदि उत्सर्पिणी के अन्य अन्य समयों को मरण द्वारा स्पर्श किया है, किन्तु क्रमपूर्वक उनका स्पर्श नहीं किये जाने ने उनकी स्पर्शना गणना में ग्रहण नहीं की जाती है। अब कदाचित् वह जीव उत्सर्पिणी के दूसरे समय में मरण को प्राप्त न हो किन्तु अन्य समय में मरण को प्राप्त हो तो वह भी नहीं गिना जायेगा परन्तु अनन्त उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी व्यतीत हो जाने के बाद जब उत्सर्पिणी के दूसरे समय मरण को प्राप्त करे तभी वह समय गिना जायेगा। इस प्रकार क्रमपूर्वक उत्सर्पिणी के सभी समयों को और उसके बाद अवसर्पिणी के सभस्त समयों को मरण द्वारा स्पर्श करते हुए जितना काल हो, उसे सूक्ष्म काल पुदगलपरावर्तन कहते हैं। उत्सर्पिणी के पहले समय में मरण को प्राप्त करे तो उस उत्सर्पिणी और उसके बाद की अवसर्पिणी जाने के बाद की उत्सर्पिणी के दूसरे समय में मरण को प्राप्त हो तो वह गिना जायेगा। इस प्रकार क्रमपूर्वक उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी के समयों में मरण को प्राप्त करते-करते जितना काल होता है, उसे सूक्ष्म काल पुदगलपरावर्तन कहते हैं।<sup>12</sup>

? बादर और सूक्ष्म काल पुदगलपरावर्तन के उत्तर समयों का नारांश यह है कि जितने समय में एक जीव उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के सब समयों में क्रम या विनाक्रम के मरण कर चुकता है, उसने काल को बादर काल पुदगलपरावर्तन कहते हैं तथा कोई एक जीव किसी विवक्षित उत्सर्पिणी काल के पहले समय में मरा, पुनः उसके दूसरे समय में मरा, पुनः तीसरे समय में मरा, इस प्रकार क्रमबाट उत्सर्पिणी और

वर्णालिङ्गका—ज्ञातवाय एवं लुकितेऽत्यन्तम् एवं शुद्धात्म

इस प्रकार से बादर और सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाने के बाद अब बादर और सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाते हैं।

### भाव पुद्गलपरावर्तन

अणुभागद्धाणेसु । अण्तरपरपराविभक्तीहि ।

भावमि बायरो सो सुहुमो सख्वेसुणुकमसो ॥४१॥

**शब्दार्थ**—अणुभागद्धाणेसु—अनुभागस्थानों में, अण्तरपरपराविभक्तीहि—अनन्तर और परम्परा के क्रम से, भावमि—भाव में, बायरो—बादर, सो—वह, सुहुमो—सूक्ष्म, सख्वेसुणुकमसो—अनुक्रम से समस्त अध्यवसायों में।

**गाथार्थ**—अनन्तर और परम्परा के क्रम से अनुभागस्थानों में मरण को प्राप्त करते जितना काल हो, उसे बादर भाव पुद्गलपरावर्तन कहते हैं और अनुक्रम से समस्त अध्यवसायों में मरण को प्राप्त करते जितना काल जाता है, उसे सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।

**विशेषार्थ**—यहाँ पुद्गलपरावर्तन के चार भेदों में से अंतिम भाव पुद्गलपरावर्तन के बादर और सूक्ष्म प्रकारों का स्वरूप बतलाया है कि अनुभागस्थानों में वानि रसबंध में हेतुभूत असंबोध लोकाकाश-प्रदेश प्रमाण अध्यवसायों में एक जीव जितने काल में अनन्तर अथवा परपरा से मरण की प्राप्ति करे, उतने काल को बादर भाव पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।

इसका लात्पर्य यह है कि अनुभागस्थान अथवा रसस्थानों के बंध

अवस्थिति काल के गद समयों में जब भरण कर लूकता है, तो उसे सूक्ष्म काल पुद्गलपरावर्तन कहते हैं। केवल की तरह यहाँ भी समयों की वर्णना क्रमबाट करना चाहिए। व्यवहित की वर्णना नहीं की जाती है।

में हेतुभूत कषायोदयजन्य जो अध्यवसाय हैं, वे कारण में कार्य का आरोप करने से अनुभागस्थान कहलाते हैं। वे अध्यवसाय असंख्यात् लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं। अतएव जितने काल में एक जीव क्रम से या अक्रम से रसबंध के समस्त अध्यवसायों में मरण को प्राप्त हो यानि प्रत्येक अध्यवसाय को क्रम से या अक्रम से मरण द्वारा स्पर्श करे, उतने काल को बादर भाव पुद्गलपरावर्तन कहते हैं।

इस प्रकार से बादर भाव पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाते के बाद अब सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन का स्वरूप बतलाते हैं।

रसबंध के हेतुभूत समस्त अध्यवसायों में क्रमपूर्वक मरण को प्राप्त करते हुए जितना काल हो, उसे सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन कहते हैं, अर्थात् कोई एक जीव जघन्य कषाय के उदय से उत्पन्न हुए अध्यवसाय में मरण को प्राप्त हुआ, उसके बाद वही जीव अनन्तकाल में भी प्रथम के निकटवर्ती दूसरे अध्यवसाय में मरण को प्राप्त हो तो वह मरण गणना में ग्रहण किया जायेगा, किन्तु अन्य-अन्य अध्यवसायों में हुए मरणों को गणना के क्रम में नहीं लिया जायेगा। तत्त्वचात् पुनः कालान्तर में दूसरे के निकटवर्ती तीसरे अध्यवसाय में मरण को प्राप्त करे तो वह मरण गिना जायेगा, परन्तु बीच-बीच में अन्य अन्य अध्यवसायों के द्वारा हुए अनन्त मरण नहीं गिने जायेंगे। यानी उक्तक्रम से मरणों द्वारा हुई अध्यवसाय की स्पर्शना नहीं मिनी जायेगी, किन्तु काल गिना जायेगा। इस प्रकार अनुक्रम से रसबंध के समस्त अध्यवसायस्थानों को जितने काल में मरण द्वारा स्पर्श किया जाये, उतने काल को सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन जानना चाहिये।

४ बादर सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन के उक्त स्थानों का सारांश यह है कि तरतमता की लिये हुए अनुभागबंधस्थान असंख्यात् लोकाकाश प्रदेश प्रमाण हैं। उन स्थानों में से एक-एक अनुभागबंधस्थान में क्रम से या अक्रम से मरण करते-करते जीव जितने समय में समस्त अनुभागबंधस्थानों में मरण कर चुकता है, उतने समय की बादर भाव पुद्गलपरावर्तन कहते हैं तत्का-

यहाँ पर बादर पुद्गलपरावर्तनों की प्रस्तुपणा सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तनों का स्वरूप स्पष्ट करने के लिए की है।

सिद्धान्त में सर्वत्र सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तनों को उपयोगी बताया है और स्थूल पुद्गलपरावर्तनों का विचार उन सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तनों का स्वरूप समझने की अपेक्षा से किया है। यद्यपि चारों सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तनों में परमार्थतः कुछ विशेषता नहीं है, फिर भी जीवाभिगम आदि सूक्ष्मों में क्षेत्र की अपेक्षा जहाँ भी विचार किया गया है, वहाँ प्रायः क्षेत्र पुद्गलपरावर्तन को ग्रಹण किया है। यहाँ भी पुद्गलपरावर्तन का अर्थ अंत्र पुद्गलपरावर्तन समझना चाहिए।

इस प्रकार से मिथ्याइष्ट मुण्डस्थान के जब्तन्य, उत्कृष्ट काल एवं पुद्गलपरावर्तन के स्वरूप का निर्देश करने के बाद अब सासादन और मिथ्यहिष्ट मुण्डस्थानों एवं औपशमिक सम्यक्त्व, आधिक सम्यक्त्व का आल बतलाते हैं।

**सासादन, मिथ्य मुण्डस्थान, सम्यक्त्वद्विक का काल**

**आवलियाणं छक्कं सगयादारबम सासणो होइ ।**

**मीसुवसम अंतमुहु खाइयदिट्ठी अणातद्वा ॥४२॥**

**शब्दार्थ—**आवलियाण—आवलिका, छक्क—छह, सगयादारबम—समय से प्रारम्भ होकर (लेकर), सासणो—सासादन मुण्डस्थान, होइ—

सबसे जब्तन्य अनुभागबंधस्थान में वर्तमान कोई जीव मरा, उसके बाद उस स्थान के अनन्तरवर्ती दूसरे अनुभागबंधस्थान में वह जीव मरा, इसके बाद उसके अनन्तरवर्ती तीसरे अनुभागबंधस्थान में मरा, इस प्रकार क्रम से जब समस्त अनुभागबंधस्थानों में मरण कर लेता है तो वह सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन जानना चाहिए। सूक्ष्म भाव पुद्गलपरावर्तन में क्रम से होने वाले मरण को ग्रहण किया जाता है, किन्तु अक्रम से होने वाले अनन्तानन्त मरण गणना में नहीं सिये जाते हैं।

१ दिगम्बर साहित्य में बताया गया पुद्गलपरावर्तनों का स्वरूप परिशिष्ट में देखिए।

होता है, मीमुवसम—मिथ्रहृष्टि गुणस्थान और उपशम सम्यक्त्व, अन्तमुहू—अन्तमुहूतं, इष्टविद्धी—क्षायिक सम्यक्त्व, अर्णतद्वा—अनन्त काल पर्यन्त ।

**ग्राम्यार्थ—** सासादन गुणस्थान समय से लेकर छह आवलिका पर्यन्त होता है, मिथ्रहृष्टि गुणस्थान और औपशमिक सम्यक्त्व अन्तमुहूतं पर्यन्त तथा क्षायिक सम्यक्त्व अनन्त काल पर्यन्त होता है ।

**दिव्येषार्थ—** गाथा में सासादन गुणस्थान का काल बतलाने के प्रसंग में कहा है कि सासादन गुणस्थान एक समय से लेकर छह आवलिका पर्यन्त होता है । जिसका साध्टीकरण इस प्रकार है कि पहले गुणस्थानों का स्वरूप बतलाने के प्रसंग में कहा है कि जिसने सासादन भाव प्राप्त किया है, ऐसा कोई जीव सासादन गुणस्थान में एक समय रहता है, दूसरा कोई ही समय, अन्य कोई तीन समय रहता है, इस प्रकार कोई छह आवलिका पर्यन्त रहता है, उसके बाद मिथ्यात्व गुणस्थान में चला जाता है । जिससे एक जीव की हृष्टि से सासादन गुणस्थान का काल जश्न्य से एक समय और उत्कृष्ट से छह आवलिका होता है ।

‘मीमुवसम अंतमुहू’ अर्थात् मिथ्रहृष्टि गुणस्थान और उपशम सम्यक्त्व का काल जश्न्य और उत्कृष्ट से अन्तमुहूतं पर्यन्त है । यानि मिथ्रहृष्टि गुणस्थान का जश्न्य और उत्कृष्ट से अन्तमुहूतं काल प्रसिद्ध है । मात्र जश्न्य पद में अन्तमुहूतं लघु और उत्कृष्ट पद में बड़ा लिना चाहिये ।

औपशमिक सम्यक्त्व जो मिथ्यात्व गुणस्थान में तीन करण करके प्राप्त होता है, उसका अथवा उपशमश्च णिवतीं सम्यक्त्व का जश्न्य और उत्कृष्ट काल अन्तमुहूतं है । उनमें से पहले प्रकार के उपशम सम्यक्त्व का अन्तमुहूतं काल इस प्रकार जानना चाहिये कि मिथ्यात्व गुणस्थान में तीन करण करके उपशम सम्यक्त्व सहित देशविरत आदि गुणस्थानों में भी जाये तब भी उसका अन्तमुहूतं ही स्थितिकाल है ।

क्योंकि उसके बाद क्षायोपशामिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है। उपशम सम्यक्त्व अन्तमुहूर्त से अधिक काल नहीं रहता है, जिससे देशविरत आदि गुणस्थानों में अधिक काल रहना हो तो क्षायोपशामिक सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है तथा देशविरत आदि प्राप्त न करे किन्तु मात्र सम्यक्त्व प्राप्त करे तो अन्तमुहूर्त के बाद गिरकर कोई सासादनभाव को प्राप्त होता है और कोई क्षायोपशामिक सम्यक्त्व प्राप्त करता है तथा उपशमशेणि का काल अन्तमुहूर्त होने से श्रेणि के उपशम सम्यक्त्व का काल भी अन्तमुहूर्त प्रभाव ही है। इस तरह दोनों उपशम सम्यक्त्वों का अधन्य और उत्कृष्ट काल अन्तमुहूर्त का ही घटित होता है। मात्र अधन्य से उत्कृष्ट विशेषादिक है।

क्षायिक सम्यक्त्व अनन्तकाल पर्यन्त होता है—‘खाइयदिढ़ी अणतदा’। इसका कारण यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व दर्शनमोहनीय के सम्पूर्ण नाश से उत्पन्न हुआ जीव का शुद्ध स्वरूप होने से प्राप्त होने के बाद किसी भी समय नष्ट नहीं होता है। इसी कारण क्षायिक सम्यक्त्व का काल सादि-अनन्त है।

इस प्रकार से आदि के तीन गुणस्थानों और प्रसंगोपात् औपशामिक, क्षायिक सम्यक्त्वों का काल बतलाने के बाद अब चीथे, पांचवे—अविरत सम्यग्दृष्टि और देशविरत गुणस्थानों का काल बतलाते हैं।

**अविरत और देशविरत गुणस्थान का काल**

‘वेयग अविरयसम्मो तेत्तीसयराह्यं साइरेगाइ’।

अंतमुहूर्ताओं पुन्वकोड़ी देसो उ देसूणा ॥४३॥

**शान्दर्भ—** वेयग—वेदक, अविरयसम्मो—अविरत सम्यग्दृष्टि जीव, तेत्तीसयराह्य—तेत्तीस सागरोपम, साइरेगाइ—कुछ अधिक, अंतमुहूर्ताओ—अन्तमुहूर्त से, पुन्वकोड़ी—पुर्वकोटि, देसो—देशविरत, उ—और, देसूणा—देशोन।

**गाथार्थ**—बेदक अविरत सम्यग्हटि जीव अन्तमुहूर्त से लेकर कुछ अधिक तेतीस सागरोपम पर्यन्त और देशावरत देशोन-पूर्वकोटि पर्यन्त होता है।

**विशेषार्थ**—गाथा में अविरत सम्यग्हटि और देशविरत गुणस्थान का काल बतलाने के प्रसंग में पहले चौथे अविरत सम्यग्हटि गुणस्थान के लिये बतलाया है कि 'वियग अविरयसम्मो' अर्थात् ज्ञायोपशमिक सम्यक्त्वयुक्त अविरत सम्यग्हटि जीव जघन्य से अन्तमुहूर्त पर्यन्त होता है और उसके बाद अन्तमुहूर्त से लेकर उत्कृष्ट से कुछ अधिक तेतीस सागरोपम पर्यन्त होता है। जिससे चौथे गुणस्थान का उतना काल घटित होता है।

कुछ अधिक तेतीस सागरोपम पर्यन्त ज्ञायोपशमिक सम्यक्त्व युक्त अविरत गायग्हटि होने का वार्ता यह है कि कोई व्यवहर संहठन बाला जीव निरतिचार चारित्र का धालन करके उत्कृष्ट स्थिति बाले अनुत्तर विमान में उत्पन्न हो तो वही उसका अविरत सम्यग्हटिष्ठने में तेतीस सागरोपम प्रमाण काल बोतता है। क्योंकि अनुत्तर विमान-वासी देवों की उत्कृष्ट आयु तेतीस सागरोपम प्रमाण है। तत्त्वज्ञात् वही से चयवकर मनुष्यभव में आकर जब तक सर्वविरति आदि को प्राप्त न करे तब तक अविरति में ही रहता है, जिससे ऐसे स्वरूप बाले बंदक किसी अविरत सम्यग्हटि जीव के मनुष्यभव के कुछ वर्ष अधिक तेतीस सागरोपम का काल घटित होता है।

इस प्रकार चौथे अविरत सम्यग्हटि गुणस्थान का काल ज्ञानना चाहिये। अब पांचवें देशविरत गुणस्थान का काल बतलाते हैं।

देशविरत जीव जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त होता है, जिससे पांचवें गुणस्थान का उतना काल है। जघन्य से अन्तमुहूर्त का भानने का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कोई अविरत आदि जीव अन्तमुहूर्त पर्यन्त देशविरत गुणस्थान में रहकर अविरत आदि को प्राप्त करे या प्रभत्तसंवत्त आदि गुणस्थानों में जाये तो उसकी अपेक्षा अन्तमुहूर्त का उतना काल घटित होता है। जघन्य

से भी उतने काल रहकर अविरतपने को या सर्वविवरतिभाव को प्राप्त करता है, उससे पूर्व नहीं तथा उत्कृष्ट से देशोन पूर्वकोटि मानने का कारण यह है कि कोई पूर्वकोटि वर्ष की आयुवाला जीव कुछ अधिक नौ मास यर्ष में रहे और उसके बाद जन्म लेने पर भी आठ वर्षपर्यन्त देशविवरति अथवा सर्वविवरति को प्राप्त नहीं कर सकता है। इसका कारण यह है कि आठ वर्ष से कम आयु वाले के तथास्वभाव से देशविवरति अथवा सर्वविवरति को जाप्त करने के योग्य परिणाम नहीं होते हैं, जिससे उतने काल पर्यन्त किसी भी प्रकार का चारित्र प्राप्त नहीं होता है। वानि उतनी आयु जीवने के बाद जो देशविवरति प्राप्त करे उसकी अपेक्षा देशविवरति गुणस्थान का देशोन पूर्वकोटि काल धृटित होता है, इससे अधिक धृटित नहीं होता है। क्योंकि पूर्वकोटि से अधिक आयुवाले जीव भोगभूमिज होते हैं और उनके विवरति परिणाम नहीं होते हैं, मात्र आदि के चार गुणस्थान होते हैं।

इस प्रकार से अविरत सम्यग्हटित और देशविवरति गुणस्थान का कालप्रभाग बतलाने के बाद अब प्रभत और अप्रभत संयत गुणस्थान का एक जीव की अपेक्षा काल बतलाते हैं।

### प्रभता, अप्रभता संयत गुणस्थान का काल

समयाओ अंतमुह पमस्त अपमत्तयं भयंति मुणि ।

देसूण पुञ्चकोडि अन्तोन्नं चिदृहि भयंता ॥४४॥

**शब्दार्थ—** समयाओ—एक समय से लेकर, अंतमुह—अंतमुहूर्त पर्यन्त, पमत्त अपमत्तय—प्रभत और अप्रभत भाव को, भयंति—सेवन करते हैं, मुणि—मुनि, देसूण—देशोन, पुञ्चकोडि—पूर्वकोटि, अन्तोन्नं—परस्पर एक दूसरे को, चिदृहि—रहते हैं, भयंता—सेवन करते हुए।

**गाथार्थ—** मुनि एक समय से लेकर अंतमुहूर्त पर्यन्त प्रभत अथवा अप्रभत भाव को सेवन करते हैं और परस्पर एक दूसरे गुणस्थान को देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त सेवन करते हुए रहते हैं।

**विशेषार्थ—**गाथा में छठे और सातवें गुणस्थान का अपेक्षाद्विदि से काल बतलाया है कि मूनिजन प्रमत्तभाव में अथवा अप्रमत्तभाव में एक समय से लेकर अन्तमूर्हृतं पर्यन्त रहते हैं। तत्पश्चात् यदि प्रमत्त हों तो अवश्य अप्रमत्त गुणस्थान में जाते हैं और अप्रमत्त हों तो प्रमत्त में आते हैं। जिससे प्रमत्त और अप्रमत्त संयत गुणस्थानों में से प्रत्येक का जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से अन्तमूर्हृतं काल है। जिसका आशय यह है—

प्रमत्तमुनि अथवा अप्रमत्तमुनि जघन्य से उस-उस अवस्था में एक समय रहते हैं। तत्पश्चात् मरण संभव होने से अविविरतिदशा को प्राप्त हो जाते हैं। अतएव यही जघन्य से एक समय काल मरने वाले की अपेक्षा घटित होता है और यदि मरण को प्राप्त न हों तो अन्तमूर्हृतं काल होता है। इसी अपेक्षा उत्कृष्ट से अन्तमूर्हृतं काल बतलाया है। तत्पश्चात् प्रमत्त के अवश्य अप्रमत्तता, देशविविरतित्व अथवा मरण भी हो सकता है तथा अप्रमत्त के प्रमत्तत्व, कोई भी श्रेणि अथवा देशविविरति आदि प्राप्त होती है।

**प्रश्न—**यह कैसे जाना जा सकता है कि अन्तमूर्हृतं के बाद प्रमत्त गुणस्थान से अप्रमत्त गुणस्थान में और अप्रमत्त गुणस्थान से प्रमत्त गुणस्थान में जाते हैं? देशविविरति आदि की तरह दोषंकाल पर्यन्त वे दोनों गुणस्थान क्यों नहीं होते हैं?

**उत्तर—**संक्लेशस्थानों में वर्तमान मुनि प्रमत्त और विशुद्धिस्थानों में वर्तमान मुनि अप्रमत्त होते हैं और ये संक्लेश एवं विशुद्धि के स्थान प्रत्येक असंख्यात् लोकाकाश प्रदेश प्रभाग हैं। यथार्थ रूप से मूनिदशा में वर्तमान मुनि जब तक उपशमधेणि अथवा क्षपकर्णेणि पर आरोहण न करें तब तक जीवस्वभाव से अन्तमूर्हृतपर्यन्त संक्लेश स्थानों<sup>१</sup> में रहकर विशुद्धिस्थानों में आते हैं। तथास्वभाव से दीर्घकाल पर्यन्त न तो संक्लेशस्थानों में रहते हैं और न विशुद्धिस्थानों में ही

१ यहीं जो संक्लेशस्थान कहे हैं वे अप्रमत्त की अपेक्षा समझना चाहिए, देशविविरति की अपेक्षा तो वे सभी विशुद्धिस्थान ही हैं।

रह सकते हैं। जिसमें प्रमत्त और अप्रमत्त भाव में देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त परावर्तन करते रहते हैं। इसी कारण प्रमत्तभाव अथवा अप्रमत्तभाव में प्रत्येक अन्तमुहूर्त काल पर्यन्त होते हैं, इससे अधिक काल तक नहीं ही सकते हैं। शतकबृहच्छूणि में भी यही बताया है—

‘इत्थ संकिलिस्तद्विशुद्धाद् या विरजे अन्तमुहूर्तं जाव कालं, न परमो । तेण संकिलिस्तसो संकिलेस्ताणेषु अन्तोमुहूर्तं कालं जाव प्रमत्तसंज्ञो होइ, विमुख्यांतो विसोहिटाणेषु अन्तोमुहूर्तं कालं जाव अप्रमत्तसंज्ञो होइ ।’

इस प्रकार संकिलित परिणाम वाला या विशुद्ध परिणाम वाला मूलि अन्तमुहूर्त काल पर्यन्त ही हो सकता है, अधिक काल नहीं होता है। जिससे संकिलित परिणाम वाला प्रमत्त मूलि संकलेशस्थानों में अन्तमुहूर्त पर्यन्त और विशुद्ध परिणाम वाला अप्रमत्त मूलि विशुद्धस्थानों में अन्तमुहूर्त पर्यन्त रहता है।

**प्रश्न**—इस प्रकार से प्रमत्त और अप्रमत्तपने में कितने काल तक परावर्तन करते हैं?

**उत्तर**—प्रमत्त और अप्रमत्तपने में देशोनपूर्वकोटि पर्यन्त परावर्तन करते हैं। प्रमत्त में अन्तमुहूर्त रहकर अप्रमत्त में और अप्रमत्त में अन्तमुहूर्त रहकर प्रमत्त में, इस तरह क्रमशः देशोन पूर्वकोटि पर्यन्त होता रहता है—‘देशोन पूर्वकोटि अन्तोमुहूर्तं चिट्ठहि भयंता ।’

यहाँ गर्भ के कुछ अधिक नौ मास और प्रसव होने के बाद आठ वर्ष पर्यन्त जीव स्वभाव में विरति परिणाम वाला न होने से उतना काल पूर्वकोटि आयु में से कम कर देने के कारण यहाँ देशोन—एक देश कम पूर्वकोटि काल ग्रहण किया है।

इस प्रकार से छठे और सातवें—प्रमत्तसंयत और अप्रमत्तसंयत गुणस्थानों के काल का निर्देश करने से अभी तक आदि के सात गुणस्थानों के काल का विचार किया जा चुका है। अब एक जीव की अपेक्षा दोष गुणस्थानों के काल का निरूपण करते हैं।

## अपूर्वकरणादि गुणस्थानों का काल

समयाओ अंतमुहू अपूर्वकरणा उ जाव उवसंतो ।

खीणाजीगीणतो ॥ देशसंसदे जीगिणो ॥ काली ॥ ४५॥

**शब्दार्थ**—समयाओ—एक समय से प्रारम्भ कर, अंतमुहू—अन्तमुहू है, अपूर्वकरण—अपूर्वकरण गुणस्थान से, उ—और, और—वर्तमा, तक, उवसंतो—उपशांतमोहू गुणस्थान, रोणाजोगीणतो—अग्रीजमोहू और अग्रीगिकेवली गुणस्थान का अन्तमुहूर्त, देशसंसद—देशविरल गुणस्थान के तुम्ह, औगिणो—संयोगिकेवली का, कालो—काल ।

**गाथार्थ**—अपूर्वकरण से आरम्भ कर उपशांतमोहू गुणस्थान पर्यन्त के गुणस्थान एक समय में लेकर अन्तमुहूर्त पर्यन्त होते हैं । जीणमोहू और अयोगिकेवली गुणस्थान अन्तमुहूर्त पर्यन्त होते हैं तथा देशविरल गुणस्थान के तुल्य संयोगिकेवली गुणस्थान का काल है ।

**विशेषार्थ**—गाथा में तीन विभाग करके आठवें से लेकर चौदहवें तक सात गुणस्थानों का काल बतलाया है । पहला विभाग आठवें अपूर्वकरण से लेकर चारहवें उपशांतमोहू गुणस्थानपर्यन्त चार गुणस्थानों का है । दूसरे विभाग में चारहवें छीणमोहू और चौदहवें अयोगिकेवली इन दो गुणस्थानों का समावेश है और तीसरे में सिर्फ़ संयोगिकेवली गुणस्थान है । इन तीनों में से पहले विभाग के गुणस्थानों का काल बतलाते हैं—

‘अपूर्वकरणा उ जाव उवसंता’ अर्थात् अपूर्वकरण, अनिवृत्तिवादर-संपर्णय, सूक्ष्मसंपराय और उपशांतमोहू, इन चार गुणस्थानों का काल एक समय से लेकर अन्तमुहूर्त पर्यन्त है । अर्थात् ये गुणस्थान एक समय से लेकर अन्तमुहूर्त पर्यन्त होते हैं, इसलिये इनमें से प्रत्येक गुणस्थान का अध्यन्य काल एक समय और उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त प्रमाण है ।

इन गुणस्थानों का अध्यन्य से एक समय प्रमाण काल मानने का कारण यह है कि कोई एक जीव उपशमश्रेणि में एक समय मात्र अपूर्वकरणत्व का अनुभव करके, दूसरा कोई अनिवृत्तिकरण में आकर-

उसका समयमात्र अनुभव कर, अन्य कोई सुश्मरणराय में आकर उसका समयमात्र स्पर्श कर और अन्य कोई उपशात्मोह गुणस्थान को प्राप्त कर उसका समयमात्र अनुभव कर कालधर्म को प्राप्त हो और दूसरे समय में अनुत्तर विभान में उत्पन्न होता है तो उसके मनुष्यायु के चरम समय पर्यन्त अपूर्वकरणादि गुणस्थान होते हैं और देवपर्याय में उत्पन्न हुए उसको पहले समय में ही अविरतसम्यग्टुष्ट गुणस्थान प्राप्त होता है। इस प्रकार उपर्युक्त चार गुणस्थानों में से किसी भी गुणस्थान में समयमात्र रहकर कालधर्म को प्राप्त हो तो उस अपेक्षा उन चारों गुणस्थानों का समयमात्र काल संबद्ध है।

अब इन्हीं अपूर्वकरणादि गुणस्थानों का अन्तमुहूर्त काल होना स्पष्ट करते हैं कि इन अपूर्वकरणादि सभी उपर्युक्तों का अन्तमुहूर्त काल है, अतः अन्तमुहूर्त के बाद अन्य गुणस्थानों में जाये अथवा मरण प्राप्त करे तो उससे उनका उत्कृष्ट काल अन्तमुहूर्त घटित होता है तथा क्षपकथेण में अपूर्वकरणादि प्रत्येक गुणस्थान का एक जैसा अन्तमुहूर्त ही काल है। इसका कारण यह है कि क्षपकथेण पर आङ्ग जीव समस्त कर्मों का क्षेय किये बिना मरण को प्राप्त नहीं होते हैं। इसलिये कहा है—‘समयाद्वा अंतमुहूर्त अपूर्वकरणा उ जाव उवसंतो।’

इस प्रकार से अपूर्वकरणादि उपशात्मोह पर्यन्त चार गुणस्थानों का काल जानना चाहये। अब दूसरे विभाग में गमित क्षीणमोह और अयोगिकेवली गुणस्थानों के काल का निरूपण करते हैं—

‘खीणाजोगीणतो’ अर्थात् क्षीणमोह गुणस्थान और भवस्थ अयोगिकेवली का अजघन्योत्कृष्ट अन्तमुहूर्त काल है। इसका कारण यह है कि क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती जीव का मरण नहीं होता है, जिससे उस गुणस्थान में अन्तमुहूर्त रहकर जानावरण आदि तीन धाति कर्मों का क्षय कर सयोगिकेवली गुणस्थान में जाता है। जिससे उसका काल अन्तमुहूर्त प्रमाण ही है और भवस्थ अयोगिकेवली पांच हृस्थाकर्तों का उच्चारण करते जितना काल होता है, उतने काल वहाँ रहकर समस्त अधाति कर्मों का क्षय करके भोक्ता में जाते हैं।

जिससे पांच हृस्वाक्षर उच्चारण करते जितना समय होता है, उतना उक्तका काल है । इसीलिये दोनों का अजघन्योत्कृष्ट काल अन्तमुहूर्त बताया है । इस प्रकार क्षीणभोह और अयोगिकेवली गुणस्थानों का काल जानना चाहिये ।

अब तीसरे विभाग में समाविष्ट सयोगिकेवली गुणस्थान का काल बतलाते हैं कि 'देसस्साव जोगिणो कालो' अर्थात् सयोगिकेवली का काल देशविरत गुणस्थान जितना है । यानि पूर्व में देशविरत गुणस्थान का जो जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि प्रमाण काल बतलाया है, उसी प्रकार से इस सयोगिकेवली गुणस्थान का काल भी जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट देशोन पूर्वकोटि काल जानना चाहिये । अन्तमुहूर्त काल अन्तकृत केवली की अपेक्षा है और देशोन पूर्वकोटि काल इस प्रकार जानना चाहिये कि पूर्वकोटि की आयु वाला कोई जीव सात मास या नौ मास वर्ष में रहकर जन्म लेने के अन्तर आठ वर्ष बाद चारित्र प्राप्त कर शीघ्र केवलज्ञान उत्पन्न करे तो ऐसे पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले जीव<sup>१</sup> की अपेक्षा तेरहवें गुणस्थान का देशोन पूर्वकोटि काल संभव है ।

पूर्वोक्त प्रकार से एक जीव की उपेक्षा प्रत्येक गुणस्थान के काल का प्रमाण जानना चाहिये । अब कायस्तिति का प्रमाण बतलाते हैं । एकेन्द्रियादि की कायस्तिति

एगिदियाणर्णता दोणि सहस्रा तसाण कायठिई ।

अथराण हगपणिदिसु नरतिरियाण सगट्ठ भद्रा ॥४६॥

शब्दार्थ—एगिदियाणर्णता—एकेन्द्रियों की असत्, धोणि—दो, सहस्रा—

१ जिस समय पूर्व जन्म की आयु पूर्ण होती है, उसके बाद के समय से ही आगामी जन्म की आयु प्रारम्भ हो जाती है । दिघहस्ति या वर्ष में जो काल बीतता है, वह आगे के जन्म का ही बीतता है । इसलिए यहाँ जो सात मास या नौ मास वर्ष के अतीर प्रसव के बाद के जो आठ वर्ष कहे हैं, वे पूर्वकोटि के अन्तर्गत ही समझा चाहिए ।

सहस्र, हजार, तत्साण—त्रिसजीवों की, कायथिई—कायस्थिति, अयराम—सागरोपम, इग—एक, पणिदिसु—पञ्चेन्द्रियों की, भरतिरियाण—मनुष्य, तिर्यकों की, सागट्ठभवा—सात-आठ भव ।

**गाथार्थ**—एकेन्द्रियों की अनन्त सागरोपम सहस्र, त्रिसजीवों की दो हजार सागरोपम, पञ्चेन्द्रियों की एक हजार सागरोपम और मनुष्य तिर्यकों की सात-आठ भव कायस्थिति है ।

**विवेषार्थ**—गाथा में जाति की अपेक्षा एकेन्द्रिय से लेकर पञ्चेन्द्रिय अर्थात्, काय की अपेक्षा स्थावर से लेकर त्रिस काय के जीवों की और गति की अपेक्षा मनुष्य और तिर्यक की कायस्थिति का विचार किया गया है ।

बार-बार उसी भव में उत्पन्न होता, जैसे कि एकेन्द्रिय में मरकर पुनः-पुनः एकेन्द्रिय होने को, द्वीन्द्रिय में मरकर पुनः-पुनः द्वीन्द्रिय में उत्पन्न होने को कायस्थिति कहते हैं ।

इस प्रकार की कायस्थिति एकेन्द्रियों की अनन्त सागरोपम सहस्र प्रमाण है—‘एण्डिदियाणाथीता’, यानि एकेन्द्रिय अनन्त उत्सविणी अव-सर्पिणी प्रमाणकाल पुनः-पुनः एकेन्द्रिय भव को धारण कर सकते हैं । एकेन्द्रियों की यह अनन्त सागरोपम सहस्र प्रमाण कायस्थिति बनस्पति की अपेक्षा से जानना चाहिये । क्योंकि बनस्पति के सिद्धाय शेष पृथ्वी-काय आदि सभी की कायस्थिति असंख्यात काल प्रमाण ही है । इस प्रकार से एकेन्द्रियों की कायस्थिति जानना चाहिये ।

अब त्रिसकाय की कायस्थिति बतलाते हैं कि ‘दोष्णि सहस्रा तत्साण कायथिई’ अर्थात् बारम्बार त्रिसकाय—द्वीन्द्रियादि रूप में उत्पन्न हो तो त्रिसों की कायस्थिति दो हजार सागरोपम प्रमाण है और मात्र कुछ वर्ष अधिक समझना चाहिये तथा त्रिसों में से भी पञ्चेन्द्रिय जीवों की कायस्थिति जघन्य से अन्तमुहूर्त और उल्कूष्ट से कुछ वर्ष अधिक एक सागरोपम प्रमाण होती है—‘इग पणिदिसु’ ।

पर्याप्त त्रामकर्म के उदय वाले संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यकों की उल्कूष्ट कायस्थिति सात अथवा आठ भव की है—‘भरतिरियाण

सगटुभवा'। इनमें एक के बाद एक लगातार मनुष्य अथवा तिर्यंच भव हों तो सात भव संस्थात वर्ष की आयु वाले<sup>१</sup> होते हैं और आठवां भव असंख्य वर्ष की आयु वाले भोगभूमियों का ही होता है।

वह इस प्रकार जानना चाहिये कि पर्याप्ति मनुष्य अथवा पर्याप्ति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच निरन्तर अनुक्रम से पर्याप्ति मनुष्य अथवा तिर्यंच के सात भव अनुभव करके आठवें भव में यदि वह पर्याप्ति मनुष्य या पर्याप्ति संज्ञी तिर्यंच हो तो अनुक्रम से अवश्य असंख्य वर्ष की आयु वाला युगलिक मनुष्य अथवा युगलिक तिर्यंच होता है, परन्तु संस्थात वर्ष की आयु वाला नहीं होता है और असंख्यात वर्ष की आयु वाले युगलिक भरण कर देवलोक में ही उत्पन्न होने से नौवां भव पर्याप्ति मनुष्य या पर्याप्ति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच का नहीं होता है। इस कारण पिछले सात भव निरन्तर हों तो संस्थात वर्ष की आयु वाले ही होते हैं। बीच में असंख्य वर्ष की आयु वाला एक भी भव नहीं होता है। क्योंकि असंख्य वर्ष की आयु वाले भव के अनन्तर तत्काल ही मनुष्व भव या तिर्यंच भव असम्भव है। इसी कारण पर्याप्ति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य और तिर्यंच की उत्कृष्ट कायस्थिति सात, आठ भव मानी जाती है।

अपर मनुष्य और तिर्यंच की कायस्थिति सात, आठ भव कही है, उसका उत्कृष्ट से काल-प्रमाण बतलाते हैं—

पुर्वकोडिपुहुसं पल्लतिर्यं तिरिनराण कालेण ।

नाणाइगपज्जत्त मणूषपल्लसंखंस अंतमुह ॥४७॥

शब्दार्थ—पुर्वकोडिपुहुसं—पूर्वकोटि पृथक्त्व, पल्लसियं—तीस पल्ल, तिरिनराण—तिर्यंच और मनुष्यों की, कालेण—काल से, नाणाइगपज्जत्त-

१ उत्कृष्ट से पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले संस्थात वर्ष की और उससे एक समय भी अधिक आयु वाले असंख्यात वर्ष की आयु वाले भाने जाते हैं। आयु के सम्बन्ध में संस्थात और असंख्यात का यह सात्यर्थ समझना चाहिए।

अनेक और एक अपर्याप्तिक, मनुष्य—मनुष्य का, पल्लवसंखंस—पल्योपम का असंख्यातवा भाग, अन्तमुँहूतं ।

**गाथार्थ—**(पर्याप्ति) तिर्यंचों और मनुष्यों की स्व-कायस्थिति का काल पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक तीन पल्योपम है । अनेक और एक अपर्याप्ति मनुष्य का काल पल्योपम का असंख्यातवा भाग और अन्तमुँहूतं है ।

**विशेषार्थ—**पूर्व में जो पर्याप्ति मनुष्य और तिर्यंच की कायस्थिति सात, आठ भव बताई है, उन भवों का योग इस गाथा में बतलाया है कि वह पूर्वकोटिपृथक्त्व और तीन पल्योपम होता है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

जब पर्याप्ति मनुष्य अथवा पर्याप्ति संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच पूर्व के सात भवों में पूर्वकोटि वर्ष की आयु वाले हों और आठवें भव में तीन पल्योपम की आयु वाले हों तब उनकी सात कनोड़ पूर्व वर्ष अधिक तीन पल्योपम उत्कृष्ट कायस्थिति काल होता है ।

इस प्रकार से पर्याप्ति मनुष्य और संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यंचों की कायस्थिति जानना चाहिये ।

अब अनेक और एक की अपेक्षा अपर्याप्ति मनुष्य और तिर्यंचों की कायस्थिति का प्रमाण बतलाते हैं कि अनेक की अपेक्षा अपर्याप्ति मनुष्य के रूप में एक के बाद एक के क्रम से निरन्तर उत्पन्न हों तो उनका निरन्तर उत्पन्न होने का काल पल्योपम का असंख्यातवा भाग प्रमाण है । यानि इतने काल पर्यन्त वे निरन्तर उत्पन्न हो सकते हैं, उसके बाद अन्तर पड़ता है तथा बार-बार उत्पन्न होते हुए एक अपर्याप्ति मनुष्य का काल जघन्य और उत्कृष्ट से अन्तमुँहूतं है । यानी कोई भी एक अपर्याप्ति मनुष्य एक के बाद एक लगातार अपर्याप्ति मनुष्य हुआ करे तो उसका जघन्य काल भी अन्तमुँहूतं है और उत्कृष्ट काल भी अन्तमुँहूतं है । वह निरन्तर जितने भव करता है, उन सबका मिलकर काल अन्तमुँहूतं ही होता है ।

इस प्रकार से एकन्द्रिय आदि की कायस्थिति बतलाने के बाद अब वेदात्रिक आदि की कायस्थिति बतलाते हैं ।

## वेदात्रिक आदि की कायस्थिति

**पुरिसत् सन्तित्तं, सम्पुहृत्तं तु होइ अयराण् ।**

**थी पलियसपुहृत्तं, नपुंसकत्तं लगेत्तदा ॥५८॥**

शक्तार्थ—पुरिसत्—पुरुषत्व का, सन्तित्तं—संजित्व का, सम्पुहृत्तं—  
शतपृथक्त्व, तु—और, होइ—होता है, अयराण्—सामरोपम, थी—हींत्व  
का पलियसपुहृत्तं—पल्योपभृतपृथक्त्व, नपुंसकत्तं—नपुंसकत्व का, लगेत्तदा—  
अनन्त काल ।

गाथार्थ—पुरुषत्व और संजित्व का काल सामरोपम शतपृथक्त्व  
है। हींत्व का शतपृथक्त्व पल्योपम और नपुंसकत्व का अनन्त  
काल है ।

विशेषार्थ—गाथा में वेदात्रिक और संजित्व की कायस्थिति का  
काल बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण हस प्रकार है—

पुरुषवेद का निरन्तरकाल यानि बीच में किञ्चिन्मात्र भी अन्तर  
पड़े बिना निरन्तर पुरुषत्व—पुरुषवेदत्व प्राप्त हो तो जघन्य से अन्त-  
मुहूर्त<sup>१</sup> और उत्कृष्ट से सामरोपम शतपृथक्त्व है। तत्परतात् अवश्य  
ही वेदान्तर हो जाता है। परन्तु यह विशेष समझना चाहिये कि ये  
शतपृथक्त्व सामरोपम कुछ वर्ष अधिक सहित हैं। अथवा यदि निरन्तर  
पुरुषत्व की प्राप्ति हो तो उसका काल कुछ वर्ष अधिक शतपृथक्त्व  
सामरोपम प्रमाण है तथा इसी प्रकार संजित्व का—समनस्कापने का  
भी निरन्तरकाल जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से शतपृथक्त्व

१ उसी पुरुषवेदी की अपेक्षा पुरुषवेद का जघन्य काल घटित नहीं होता है।  
किन्तु अन्यवेदी की अपेक्षा घट सकता है। क्योंकि अन्य वेद वासा पुरुषवेद  
में आवार अन्तमुहूर्त रहकर मर जाये और फिर अन्यवेद में उत्पन्न हो।  
अन्तमुहूर्त से आवृ अल्प होती नहीं है। जिससे उसका जघन्य काल  
अन्तमुहूर्त बताया जाता है ।

सागरोपम प्रमाण है। अर्थात् लगातार सौभाषण की प्राप्ति होती रहे, असंज्ञी में न जाये तो उत्कृष्ट काल शतपृथक्त्व सागरोपम प्रमाण है, उसके बाद अवश्य ही असंज्ञीपना प्राप्ति होता है। यहाँ भी पुरुषवेद की उत्कृष्ट कायस्थिति की तरह शतपृथक्त्व सागरोपम कुछ वर्ष अधिक समझना चाहिये।

स्त्रीवेद निरन्तर प्राप्ति हो तो जघन्य से एक समय<sup>१</sup> और उत्कृष्ट से पूर्वकोटि पृथक्त्व अधिक सौ पल्योपम पर्यन्त प्राप्ति होता है। जीव यदि निरन्तर एक के बाद एक लगातार स्त्रीवेदी ही हो तो जघन्य और उत्कृष्ट से उपर्युक्त काल सम्भव है, तत्पद्धात्रु अवश्य ही वेदान्तार होता है। निरन्तर जघन्य से एक समय प्रमाण काल होने का कारण यह है कि कोई एक स्त्री उपशमश्रेणि में तीनों वेद के उपशम द्वारा अवेदिपना अनुभव कर श्रेणि से गिरते हुए एक समय मात्र स्त्रीवेद का अनुभव कर दूसरे समय में मरण कर देवलोक में उत्पन्न हो और श्रेणि में कालधर्म (मरण) को प्राप्ति करने वाला अनुत्तर विमान में उत्पन्न होता है और वहाँ पुरुषत्व ही प्राप्ति होने से, उसकी अपेक्षा स्त्रीवेद का जघन्य काल एक समय धृति होता है।<sup>२</sup>

नपुंसकत्व का निरन्तर काल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्त काल है। जघन्य एक समय काल तो स्त्रीवेद के समान और उत्कृष्ट असंख्यात पुरुषलपरावर्तन प्रमाण अनन्त काल संव्यवहारिक एवं

बा

१ वेद की स्वकायस्थिति में द्रव्यवेद की विवक्षा है, भाव की नहीं। क्योंकि आववेद अन्तमुहूर्त में बदल जाता है। फिर भी स्त्रीवेद का जघन्य स्वकाय स्थितिकाल वसते हुए भाववेद लिया हो, ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि उसके सिवैय एक समय धृति नहीं होता है।

२ आर्य इयामा आर्य द्वारा प्रदर्शित स्त्रीवेद सम्बन्धी उत्कृष्ट स्थिति विषयक पूर्ववाचों के मतान्तरों को परिशिष्ट में देखिये।

जीवों की अपेक्षा समझना चाहिये।<sup>१</sup> क्योंकि अनादि निगोद में से सांघर्षवहारिक जीवों में आकर पुनः असांघर्षवहारिक जीवों में जाए तो वे उसमें असंलग्न पुद्गलपरावर्तन पर्यन्त ही रहते हैं।

असांघर्षवहारिक जीवों की अपेक्षा अनन्त काल दो प्रकार का है। और असांघर्षवहारिक राशि वे निकलकर किसी समय भी सांघर्षवहारिक राशि में आने वाले नहीं हैं, वैसे कितने ही जीवों की अपेक्षा अनादि-अनन्त काल है। ऐसे भी अनन्त मूढ़म निगोद जीव हैं, जो वहाँ से निकले नहीं हैं और निकलेगे भी नहीं तथा जो असांघर्षवहारिक राशि में से निकलकर सांघर्षवहारिक राशि में आयेंगे, वैसे कितने ही जीवों की अपेक्षा अनादि-सांत काल है। यहाँ जो आयेंगे ऐसा कहा गया है, वह प्रश्नापक कालभावी सांघर्षवहारिक राशि में वर्तमान जीवों की अपेक्षा कहा है। अन्यथा जो असांघर्षवहारिक राशि में से निकल कर सांघर्षवहारिक राशि में आये, आते हैं और आयेंगे, उन सबके नपुंसकवेद का काल अनादि-सांत होता है।

**प्रश्न**—असांघर्षवहारिक राशि में से निकलकर जीव क्या सांघर्षवहारिक राशि में आते हैं?

**उत्तर**—जीवों के असांघर्षवहारिक राशि में से निकलकर सांघर्षवहारिक राशि में आने के बारे में पूर्वाचार्यों के वचन प्रभाग हैं। जैरे कि आचार्य जिमभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपने विद्येषणवती ग्रन्थ में कहा है—

३ यहाँ पुरुषत्व, स्त्रीत्व और नपुंसकत्व द्रव्य सम्बन्धी लेना चाहिये। यदि पुरुषादि का आकार निरन्तर इसने काल प्राप्त होता है। तत्प्रवास् आकार अवश्य बदल जाता है। यदि यह कहा जाये कि एक भव से दूसरे भव में जाते हुए तो कोई आकार होता नहीं है तो किर उक्त काल कैसे छट सकता है? तो इसका उत्तर है कि शरीर होने के बाद अवश्य होने वाला है। इसलिए यह कथन अयुक्त नहीं है।

सिज्जति असिया किर इह संखवहारजीशरासीओ ।  
इति अगाहवणस्सइरासीओ तसिया तंति ॥

अथात् सांब्यवहारिक राशि में से जितने जीव मोक्ष में जाते हैं, उसने जीव अनादि बनस्पति राशि में से—सूक्ष्म नियोदराशि में से सांब्यवहारिक राशि में आते हैं।

इस प्रकार से वेदात्रिक और सञ्जित्व की कायस्थिति का निर्देश करने के बाद अब बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय आदि की कायस्थिति को बतलाते हैं।

**बादर पर्याप्त एकेन्द्रियादि की कायस्थिति**

बायरपउजेगिदिय विगलाणथ बाससहस्स सखेज्जा ।

अपज्जंतसुहुमसाहारणाण पत्तोगमंतमुहू ॥४६॥

शब्दार्थ—बायर—बादर, पउजेगिदिय—पर्याप्त एकेन्द्रिय, विगलाण—विकलेन्द्रियों की, थ—और, बाससहस्स—हजार वर्ष, सखेज्जा—संख्यात, अपज्जंत—अपर्याप्त, सुहुमसाहारण—सूक्ष्म, साधारण की, पत्तोगम—प्रत्येक, अन्तमुहू—अन्तमुहूर्त।

गाथार्थ—बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों की कायस्थिति संख्यात हजार वर्ष है और अपर्याप्त, सूक्ष्म और साधारण इन प्रत्येक की कायस्थिति अन्तमुहूर्त है।

विशेषार्थ—गाथा में बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और अपर्याप्त, सूक्ष्म, साधारण जीवों की कायस्थिति का प्रमाण बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

बारम्बार पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय रूप से उत्पन्न होने वाले पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय की कायस्थिति जगत्त्व से अन्तमुहूर्त की है और उत्कृष्ट से संख्यात हजार वर्ष की है। यह बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय की कायस्थिति का विचार सामान्य बादर पर्याप्त एकेन्द्रिय की अपेक्षा से किया गया है। लेकिन बादर पर्याप्त पृथक्कीकाय एकेन्द्रिय, बादर

पर्याप्त जलकाय एकेन्द्रिय आदि, इस प्रकार एक-एक की अपेक्षा विचार करें तो उनकी कायस्थिति इस प्रकार है—

कोई जीव बारम्बार पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय हो तो उस रूप में उत्पन्न होते हुए पर्याप्त बादर पृथ्वीकाय की कायस्थिति जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात वर्षेसहस्र की है। इसी प्रकार बादर पर्याप्त जलकाय, बादर पर्याप्त वायुकाय और पर्याप्त प्रत्येक बनस्पतिकाय की भी स्व-कायस्थिति जानना चाहिए तथा बादर पर्याप्त तेजस्काय की जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से शंख्यात रात्रि दिन की जानना चाहिये।

**विकलेन्द्रियों—** द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रियों में से प्रत्येक की कायस्थिति का काल जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात हजार वर्ष है। इस प्रकार सामान्य विकलेन्द्रियों की स्व-कायस्थिति का काल समझना चाहिये, किन्तु पर्याप्त द्वीन्द्रिय आदि का पृथक्-पृथक् विचार करें तो उनका कायस्थिति काल इस प्रकार जाना चाहिए कि भारतवार पर्याप्त द्वीन्द्रिय रूप से उत्पन्न होने वाले पर्याप्त द्वीन्द्रिय की कायस्थिति का काल जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात वर्ष का है। पर्याप्त श्रीन्द्रिय का जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात रात्रि दिन का है और पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात मास का है।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय से लेकर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तक के सभी सातों अपर्याप्तकों का कायस्थिति काल जघन्य और उत्कृष्ट से अन्तमुहूर्त है तथा सामान्य से सूक्ष्म पृथ्वीकायादि, साधारण—पर्याप्त अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद और पर्याप्त अपर्याप्त बादर निगोद, इनमें से प्रत्येक भेद का कायस्थिति काल जघन्य से भी अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से भी अन्तमुहूर्त है।

यदि पर्याप्त अपर्याप्त रूप विशेषण की अपेक्षा किये बिना सामान्य से सूक्ष्मों की कायस्थिति के काल का विचार करें तो इस प्रकार है—

बारम्बार सूक्ष्म पृथ्वीकाय रूप में उत्पन्न होते हुए सूक्ष्म पृथ्वीकाय का कायस्थिति काल जग्न्य से अन्तर्मुद्रूर्त और उत्कृष्ट से असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी जानना चाहिये। इसी प्रकार से सूक्ष्म जलकाय, सूक्ष्म सैजस्काय, सूक्ष्म वायुकाय और सूक्ष्म वनस्पतिकाय का भी कायस्थिति काल समझना चाहिये।

इस प्रकार से बादर पर्याप्त एकेन्द्रियादि की कायस्थिति का काल बतलाने के बाद अब प्रत्येक और बादर की स्व-कायस्थिति बतलाते हैं।

**पत्तेय बायरस्स उ परमा हरियस्स होइ कायठिई ।**

**ओसपिणी असंखा साहारस्तं रिउगइयस्तं ॥५०॥**

**शब्दार्थ—पत्तेय—प्रत्येक, बायरस्स—बादर की, उ—और, परमा—उत्कृष्ट, हरियस्स—वनस्पति की, कायठिई—कायस्थिति, ओसपिणी—उत्सर्पिणी, असंखा—असंख्यात, साहारस्तं—आहारकत्व, रिउगइयस्तं—ऋजुगतित्व ।**

**गाथार्थ—**बादर और बादर वनस्पतिकाय इनमें से प्रत्येक की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है। आहारकत्व और ऋजुगतित्व का भी इतना ही काल है।

**विशेषार्थ—**गाथा में बादर और वनस्पतिकाय तथा आहारकत्व और ऋजुगतित्व की कायस्थिति का काल बतलाया है। इनमें से पहले बादर और बादर वनस्पतिकाय का कायस्थिति काल स्पष्ट करते हैं।

**गाथा में आगत 'पत्तेय'**—प्रत्येक<sup>१</sup> यह पृथक्—भिन्न पद है, सभस्त

१ स्वीपज्ञबृत्ति में प्रत्येक और बादर ये दोनों वनस्पतिकाय के विशेषण लिये हैं। वहाँ बताया है कि पर्याप्त अपर्याप्त विशेषणरहित प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय की स्वकाय स्थिति असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी प्रमाण है।

अन्वार्थ मस्यगिरि ने प्रश्नापनासूत्र के अनुसार बादर और वनस्पतिकाय भिन्न-भिन्न लिये हैं और बादर वनस्पतिकाय में साधारण और प्रत्येक इन दोनों का महण किया है।

पद नहीं है। यदि समस्त — समासांत पद माना जाये तो वनस्पतिकाय का विशेषण होगा और तब उससे प्रत्येक वनस्पतिकाय की स्व-कायस्थिति का प्रसंग प्राप्त होगा। किन्तु यहाँ प्रत्येक वनस्पतिकाय की अपेक्षा स्व-कायस्थिति का विचार नहीं किया गया है, सामान्य से बादर और बादर वनस्पतिकाय की स्व-कायस्थिति बतलाई है। अतएव इसका तात्पर्य यह हुआ कि सामान्य से बादर काय की तथा बादर का सम्बन्ध वनस्पति के साथ भी होने से बादर वनस्पतिकाय की उत्कृष्ट कायस्थिति असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल है और इन दोनों की जघन्य कायस्थिति अन्तमुँहूत है। अर्थात् यदि कोई जीव लगातार एक के बाद एक बादर का भव अहण करे, सूक्ष्म न हो तो उसकी असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कायस्थिति समझना चाहिये। इसी प्रकार कोई जीव बादर वनस्पतिकाय होता रहे तो उसकी भी असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी उत्कृष्ट कायस्थिति और जघन्य अन्तमुँहूत जानना चाहिये।

पूर्वोक्त के अनुरूप ही आहारकल्प और शूजुगतिस्व का भी काल समझना चाहिये अर्थात् यदि आहारीपना निरन्तर प्राप्त हो तो जघन्य से दो समय न्यून एक क्षुल्लकभव प्रमाण<sup>१</sup> और उत्कृष्ट से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण काल है।

तात्पर्य यह है कि लगातार शूजुगति हो, वक्रगति न हो तो (क्योंकि शूजुगति में जीव आहारी ही होता है) इतना निरन्तर आहारीपना

१ यहाँ आहारीपने का जघन्यकाल दो समय न्यून क्षुल्लकभव प्रमाण कहा है। उसका कारण यह है कि कम से कम क्षुल्लकभव प्रमाण आयु होती है, जिससे इतना काल लिया है और दो समय न्यून इसलिये लिया है कि एक भव से दूसरे भव में जाता हुआ जीव विघ्नगति में ही अनाहारी होता है। विघ्नगति परभव में जाते समय दो समय या सीम समय होती है। उसमें आदि के एक या दो समय अनाहारीपना होता है। यहाँ जघन्य से आहारीपने का काल कहा जा रहा है, जिससे दो समय न्यून क्षुल्लकभव कहा है।

ऋजुगति से परम्परा में जाते समय होता है। किन्तु विश्वहगति में अनाहारकर्तव्य होने से विश्वहगति से जाते हुए नहीं होता है। इसीलिये वक्रगति न हो और लगातार एक के बाद एक के क्रम से ऋजुगति हो तो उत्कृष्ट से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल होता है।

इसी प्रकार से ऋजुगतिष्ठने का उत्कृष्ट से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल समझना चाहिये। क्योंकि वक्रगति न हो और एक के बाद एक निरंतर ऋजुगति हो तो असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल पर्यन्त सम्भव होती है।

अब बादर एकेन्द्रियादि की कायस्थिति बतलाते हैं—

**मोहठिइ बायराणं सुहुमाणं असंख्या भवे लोगा ।**

**साहारणेसु दोसद्गुणला निष्विसेसाणं ॥५१॥**

**शब्दार्थ—**मोहठिइ—मोहनीय की स्थिति, बायराण—बादर पृथक्की-काय आदि की, सुहुमाण—सूक्ष्म की, असंख्या—असंख्यात भवे—है, लोगा—लोकप्रमाण, साहारणेसु—साधारण की, दोसद्गुणला—अद्वाई पुद्गलपरावर्तन, निष्विसेसाण—सामान्य से।

**गाथार्थ—**सामान्य से सभी बादर पृथक्कीकाय आदि की उत्कृष्ट कायस्थिति मोहनीय की (उत्कृष्ट) स्थिति प्रमाण, सूक्ष्म की असंख्यात लोक प्रमाण और साधारण की अद्वाई पुद्गलपरावर्तन प्रमाण है।

**विशेषार्थ—**गाथा में बादर एकेन्द्रिय आदि की कायस्थिति बतलाने के प्रसंग में पहले यह स्पष्ट करते हैं कि यथाप्रसंग किस शब्द से किसकी विवेका करना चाहिये! जैसेकि गाथागत मोह शब्द से दर्शनमोहनीय कर्म की विवेका की गई है और सामान्य से कहे गये बादर पद से बादर पृथक्की, जल, लेज, बायु तथा प्रत्येक और साधारण वनस्पति की ग्रहण करना चाहिये, लेकिन सामान्य से बादर या बादर वनस्पतिकाय नहीं समझना चाहिये। क्योंकि इन दोनों की कायस्थिति पूर्व में बतलाई जा चुकी है।

इस प्रकार आवश्यक निर्देश करते के बाद अब बादर पृथ्वीकाय आदि की कायस्थिति बतलाते हैं—

पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण रहित बादर पृथ्वी, जल, तेज, वायु, प्रत्येक और साधारण बनस्पतिकाय की जघन्य कायस्थिति अन्तमुँहूर्तं प्रमाण है और उत्कृष्ट मिथ्यात्वमोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति जितनी सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है।

'सुहुमाण असेख्या भवे लोगा' अर्थात् बारम्बार सूक्ष्म रूप से उत्पन्न होने वाले पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण रहित सूक्ष्म पृथ्वीकाय आदि की कायस्थिति काल जघन्य अन्तमुँहूर्तं और उत्कृष्ट असंख्यात् लोकाकाश में विद्यमान आकाश प्रदेशों में से समय-समय एक-एक का अपहार करते जितनी उत्सप्तिनी-अवसंधिणी हो, उतना है। पर्याप्त अपर्याप्त विशेषण विशिष्ट पृथ्वीकायादि की कायस्थिति पूर्व में बताई आ चुकी है। अतएव यही सामान्य से ही समझना चाहिये।

सूक्ष्म, बादर, पर्याप्त या अपर्याप्त इनमें से किसी भी विशेषण से रहित साधारण ( निगोदिया जीव ) की कायस्थिति जघन्य अन्तमुँहूर्तं और उत्कृष्ट अढाई पुद्गलपरावर्तन प्रमाण है।<sup>१</sup>

जब सामान्य से सूक्ष्म निगोद सम्बन्धी कायस्थिति का विचार करते हैं तब असंख्यात् लोकाकाश प्रदेश प्रमाण काल है और सामान्य से बादर निगोद की अपेक्षा विचार करते हैं तब सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण कायस्थिति है तथा पर्याप्त सूक्ष्म निगोद की अपेक्षा अथवा अपर्याप्त सूक्ष्म निगोद की अपेक्षा, इस प्रकार भिन्न-भिन्न रीति से विचार करते हैं तब जघन्य और उत्कृष्ट से अन्तमुँहूर्तं प्रमाण कायस्थिति है। इसी प्रकार बादर निगोद के लिये भी समझना चाहिये।

<sup>१</sup> वह निगोद की कायस्थिति सांघ्यवहारिक जीवों की अपेक्षा जात्यर्थ चाहिये। बारम्बार निगोदिया रूप से उत्पन्न होने वाले असांघ्यवहारिक जीवों की कायस्थिति तो अनादि है।

यदि वनस्पति की अपेक्षा सामान्य से विचार करें तो उसकी असंख्यात् पुद्गलप्रावर्तन प्रमाण कायस्थिति है।

इस प्रकार जीव भेदों की अपेक्षा उन-उनकी कायस्थिति का काल जानना चाहिये ।<sup>१</sup> अब पहले जो एक जीव की अपेक्षा गुणस्थानों का काल कहा है, उसी को अनेक जीवों की अपेक्षा कहते हैं।

### अधेक जीवापेक्षा गुणस्थानों का काल

सासणमीसाओ हृष्टि सन्तया पलियसंखदगकाला ।

उवसामग उवसंता समयाओ अंतरमुहूर्तां ॥५२॥

खवगा खीणाजोगी होति अणिच्छावि अंतरमुहूर्ता ।

नाणा जीवे तं चिय सत्तहि समएहिं अञ्जहियं ॥५३॥

**शब्दार्थ**—सासण—सासादन, मीसाओ—मिश्रदृष्टि, हृष्टि—होते हैं, सन्तया—निरन्तर, पलियसंख—पल्योपम के असंख्यात्में भाग प्रमाण, दगकाला—एक जीव के काल प्रमाण, उवसामग—उपशमक, उवसंता—उपशांतमोह, समयाओ—एक समय से लेकर, अंतरमुहूर्त—अंतर्मुहूर्त पर्यन्त।

खवगा—क्षपक, खीणाजोगी—क्षीणमोही और अयोगिकेवली, होति—होते हैं, अणिच्छावि—अनित्य हैं किरभी, अंतरमुहूर्त—अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त, नाणा—अनेक, जीवे—जीवों की अपेक्षा, तं चिय—उसी प्रकार, सत्तहि—सात, समएहि—समय से, अञ्जहियं—अधिक।

**शब्दार्थ**—सासादन और मिश्रदृष्टि निरन्तर उत्कृष्ट और अघन्य से क्रमशः पल्योपम के असंख्यात्में भाग और एक जीव के कालप्रमाण कालपर्यन्त तथा उपशमक और उपशांतमोह एक समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त होते हैं।

१. प्रज्ञापनासूक्ष्मस सम्बन्धित कायस्थिति का वर्णन परिचयिष्ट में देखिये।

क्षयक, कीणमोही और अयोग्यकेवली अनित्य हैं, फिर भी जब होते हैं तब अन्तमुँहूर्त काल और अनेक जीवों की अपेक्षा सात समय अधिक अन्तमुँहूर्त काल होते हैं।

**विशेषार्थी**—इन दो गायाओं में अनेक जीवों की अपेक्षा गुणस्थानों के निरन्तरकाल का विवेच किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

सासादनसम्यग्दृष्टि और मिश्रदृष्टि वे दोनों गुणस्थान निरन्तर उत्कृष्ट से क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवे भाग प्रमाण काल पर्यन्त होते हैं और जघन्य से जैसा पूर्व में एक जीव की अपेक्षा सासादन का एक समय और मिश्र गुणस्थान का अन्तमुँहूर्त जघन्य काल बताया है, उतना ही काल अनेक जीवों की अपेक्षा भी जानना चाहिये।

इसका तात्पर्य यह हुआ कि अनेक जीव यदि सासादनसम्यग्दृष्टि गुणस्थान को प्राप्त करें तो उसका जघन्यकाल एक समय है। क्योंकि उपशम सम्यकत्व का जघन्य काल एक समय शेष रहने पर कोई जीव अनन्तानुचिकाय के उदय से वहाँ से घिरकर एक समय प्रमाण सासादन गुणस्थान में रहकर मिश्रात्म गुणस्थान में जाये और दूसरे समय कोई भी जीव सासादन गुणस्थान में न आये तो उसकी अपेक्षा जघन्य एक समय काल घटित होता है और यदि निरन्तर अन्य-अन्य जीव सासादन गुणस्थान को प्राप्त करें तो उत्कृष्ट से क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवे भाग में जो आकाश प्रदेश हैं, उनका प्रतिसमय अपहार करते-करते जितना काल हो, उतना काल यानी असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल घटित होता है। तत्पश्चात् अवश्य अन्तर पड़ता है।

इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि गुणस्थान का अनेक जीवों की अपेक्षा निरन्तरकाल जघन्य से अन्तमुँहूर्त है। अर्थात् यदि अनेक जीव निरन्तर तीसरे गुणस्थान को प्राप्त करें तो उसका जघन्य काल अन्तमुँहूर्त है। क्योंकि तीसरे गुणस्थान का जघन्य से उतना ही काल है और उत्कृष्ट से क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवे भाग में रहे हुए प्रदेशों

का समय-समय अपहार करते-करते जितना काल हो, उतना काल घटित होता है। दूसरे-दूसरे जीव उस गुणस्थान को प्राप्त करें तो उतने काल करते हैं, उसके बाद अवश्य अन्तर पड़ता है।

**उपशमक**—उपशमश्रीणिवर्ती अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसंपराय, सूक्ष्मसंपराय और उपशांतमोह गुणस्थानों में से प्रत्येक का निरन्तर काल जघन्य एक समय है। क्योंकि एक या अनेक जीव अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में आकर उस उस गुणस्थान को एक समय मात्र स्पर्श कर मरण को प्राप्त करें और अन्य जीव उसमें प्रविष्ट न हों तो जघन्य एक समय काल घटित होता है और निरन्तर अन्य अन्य जीव उस उस गुणस्थान को प्राप्त करें तो उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त काल पर्यन्त ही प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् अवश्य अन्तर पड़ता है।

**क्षपक**—क्षपकश्रेणि वाले अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसंपराय, सूक्ष्मसंपराय तथा क्षीणमोही और भवस्थ अयोगिकेवली आत्मायें अनित्य हैं अर्थात् उन गुणस्थानों में होती भी हैं और नहीं भी होती हैं। परन्तु जब होती हैं तब अन्तमुहूर्त पर्यन्त होती है। क्योंकि उस उस गुणस्थान का उतना उतना काल है।

क्षपकश्रेणि एवं क्षीणमोह गुणस्थान में कोई भी जीव मरण को प्राप्त नहीं होता है और चौदहवें गुणस्थान में अन्तमुहूर्त रहकर अधाति कर्मों का क्षय कर मोक्ष में जाता है। यानि उपशमश्रीणिवर्ती अपूर्वकरणादि की तरह क्षपकश्रेणिवर्ती अपूर्वकरणादि का जघन्य काल नहीं होता है।

अनेक जीवों की अपेक्षा भी क्षपकश्रेणिवर्ती अपूर्वकरणादि गुणस्थान थदि निरन्तर भी हों तो अन्तमुहूर्त काल पर्यन्त ही होते हैं, तदनन्तर अवश्य अन्तर पड़ता है। क्योंकि सम्पूर्ण क्षपकश्रेणि का निरन्तर काल अन्तमुहूर्त ही है। यहाँ इतना विशेष जानना चाहिये कि एक जीवाधित अन्तमुहूर्त से अनेक जीवाधित अन्तमुहूर्त सात समय अधिक है।

मिथ्याहृष्टि, अविरत सम्प्रदृष्टि, देशविरत, प्रस्तासंयत, अप्रस्त-  
संयत और सयोगिकोवली ये छह गुणस्थान साना जीवों की अपेक्षा  
सर्वकाल होते हैं। जिससे नाना जीवों की अपेक्षा इन छह गुणस्थानों  
का काल सुप्रतीत है और एक जीव की अपेक्षा इनका काल यूब में कहा  
जा सका है।

इस प्रकार भवस्थिति, कायस्थिति और गुणस्थानों में एक जीव  
एवं अनेक जीवों का अवस्थान काल कहने के बाद अब एकेन्द्रियादि जीवों  
में अनेक जीवों की अपेक्षा निरन्तर उत्पत्ति का कालमान कहते हैं।

अनेक जीवापेक्षा एकेन्द्रियादि में निरन्तर उत्पत्तिकाल ॥५४॥

**एगिदित्तं सवर्णं तस्त्वाणं सम्मदेसचारित्तं ।**

**आवलियासंख्यं सं अडसमय चरित्तं सिद्धी य ॥५४॥**

**शब्दार्थ—**‘एगिदित्त’—एकेन्द्रियत्व, एकेन्द्रियपना, सवर्ण—निरन्तर,  
तस्त्वाण—त्रसपता, सम्मदेसचारित्त’—सम्यक्त्व, देशविरति चारित्र, अवस्थिति-  
संख्यांस—आवलिका के असंख्यात्में भाग-प्रभाण, अडसमय—आठ समय,  
चरित्त—सर्वविरति चारित्र, सिद्धी—सिद्धत्व, य—और।

**शब्दार्थ—**एकेन्द्रियत्व निरन्तर होता है। त्रसपता, सम्यक्त्व,  
देशविरति चारित्र, आवलिका के असंख्यात्में भाग प्रभाण काल  
पर्यन्त तथा सर्वविरति चारित्र और सिद्धत्व निरन्तर आठ समय  
पर्यन्त होता है।

**विशेषार्थ—**गाथा में अनेक जीवों की अपेक्षा ज.बमेदों और गुण-  
स्थानों में निरन्तर उत्पत्ति का कालमान बतलाया है। यहले जीवमेदों  
में उत्पत्तिकाल बतलाते हैं।

अनेक जीवों की अपेक्षा एकेन्द्रिय रूप से उत्पत्ति निरन्तर होती  
है। अर्थात् एकेन्द्रिय रूप से उत्पन्न हुई आत्माएँ हमेशा होती हैं।  
उनका विरहकाल नहीं है। जिसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार  
है—

एकेन्द्रिय जीव पांच प्रकार के हैं—पृथक्काय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और चनस्पतिकाय। इन पृथक्काय आदि एक-एक भेद में जीव सर्वदा उत्पन्न होते हुए प्राप्त होते हैं, तब सामान्यतः एकेन्द्रिय जीवों में निरन्तर उत्पत्ति होते रहना स्वतः सिद्ध है।

प्रैरन—पृथ्वीकाय आदि प्रत्येक हमेशा उत्पन्न होते हैं, यह कैसे जाना जाये ?

उत्तर—सूत्र-आगम वचन से जानना चाहिए। तत्सम्बन्धी सूत्र इस प्रकार है—

‘पुढिकाइयाण भरे ! केकद्यं कालं अविरहिया उबवाएण पनत्ता ? गोथम ! अगुस्मयं अविरहिया उबवाएण दनत्ता । एवं आउकाइयावि तैडकाइयावि आउकाइयावि वणस्पइकाइयावि अगुस्मयं अविरहिया उबवाएण पनत्ता ।’

अर्थात्—हे भद्रत ! पृथ्वीकाय जीव अविरह-निरन्तर कितने काल तक उत्पन्न होते हैं ? हे भौतिक ! विरहजिसा निरन्तर प्रत्येक समय उत्पन्न होते हैं। इसी प्रकार अप्काय, लेजस्काय, बायुकाय और बनस्पतिकाय भी प्रत्येक समय में लगातार निरन्तर उत्पन्न होते हैं ?

प्रदन—यदि ये पृथ्वीकाय आदि जीव प्रत्येक समय उत्पन्न होते हों तो प्रतिसमय किसने उत्पन्न होते हैं?

उत्तर—पृष्ठी, अप्, लेज और वायु के जीव प्रत्येक समय असंख्यात् लोकाकाश प्रदेश राशि प्रमाण उत्पन्न होते हैं। कहा है—

स्वयंवराओं एवं दिल्ली अदिरहिय मेष अन्नसमयं ।

हरियाणता लोगा सेसर काया असंखेहा ॥

अर्थात् एकेन्द्रियों में विरहविना ही प्रतिसमय मरण और जन्म होता है। बमस्पतिकाय अनन्त लोकाकाश प्रदेश प्रमाण और दोष चार काय असेख्यात लोकप्रभाण जन्मते हैं और मरते हैं।

'तस्त्वण' अर्थात् असत्त्व रूप से निरन्तर उत्पन्न हों तो जधव्य एक समय और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय प्रमाण

काल पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् अवश्य अन्तर पड़ता है। तत्पर्य यह हुआ कि उत्तमा काल जाने के बाद कोई भी जीव अमुक-काल पर्यन्त व्रसरूप से उत्पन्न नहीं होता है।

त्रिसप्तने का उक्त काल सामान्यतः जानना चाहिये परन्तु दीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय, तिर्यच पञ्चन्द्रिय, संमूच्छ्वम मनुष्य, अप्रतिष्ठान नरकावास के नारकों को छोड़कर शेष नारक और अनुत्तरदेवों से शेष सब देव प्रत्येक निरन्तर उत्पन्न हों तो जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से आवलिका के असंख्यातवें भाग के समय प्रभाण काल पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। तत्पश्चात् अवश्य अन्तर पड़ता है।

सम्यक्त्व और देशविरत चारित्र को अनेक जीव यदि निरन्तर प्राप्त करें तो जघन्य एक समय और उत्कृष्ट आवलिका के असंख्यातवें भाग प्रभाण काल पर्यन्त प्राप्त करते हैं। उसके बाद अमुक समय का अवश्य अंतर पड़ता है तथा सर्वथा पापव्यापार का त्याग रूप आत्मपरिणाम, उस रूप जो चारित्र जो कि मूलगुण और उत्तर गुण के आसेवन रूप लिंग द्वारा गम्य है, उसको तथा समस्त कर्मों का नाश होने से प्राप्त यथास्थित आत्मस्वरूप रूप जो सिद्धत्व उसको अनेक जीव प्राप्त करें तो जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से आठ समय पर्यन्त प्राप्त करते हैं। उसके बाद अवश्य अंतर पड़ता है तथा उपशमश्रेणि आदि के निरन्तर प्राप्त होने का समयप्रभाण इस प्रकार जानना चाहिये—

उवसमसेढी उवसंतया य मणुयत्तणुत्तरसुरत्तं ।

पदिवज्जंते समया संखेया खवगसेढी य ॥५५॥

**शब्दार्थ—**उवसमसेढी—उपशमश्रेणि, उवसंतया—उपशांतता, य—और, मणुयत्तणुत्तरसुरत्त—मनुष्यरूप और अनुसंरेवरूप, पदिवज्जंते—प्राप्त करते हैं, समया—समय, संखेया—संख्यात, खवगसेढी—शापकध्रेणि, य—और।

**मात्तर्ण—उपशमश्रेणि, उपशांतता, मनुष्यत्व, अनुत्तर-देवत्व और क्षपकश्रेणि** इन सबको संख्यात् समय पर्यंत प्राप्त करते हैं।

**विशेषार्थी—उपशमश्रेणि, उपशांतता—उपशांतमोहु गुणस्थान, पञ्चेन्द्रिय गर्भज मनुष्यत्व, अनुत्तर विमानों का देवपना और उपलक्षण से अप्रतिष्ठान—सातवीं नरकपृथ्वी के इत्यक नरकावास का नारकत्व तथा क्षपकश्रेणि इन सबको अनेक जीव निरन्तर प्राप्त करें तो जघन्य से समयमात्र प्राप्त करते हैं। एक या अनेक जीव उन-उन को प्राप्त कर दूसरे समय कोई भी जीव उन-उन को प्राप्त न करें तो उभकी अपेक्षा जघन्य काल घटित होता है और उत्कृष्ट से संख्यात् समय पर्यंत प्राप्त करते हैं। उसके बाद अन्तर पड़ता है। क्योंकि इन सब को प्राप्त करने वाले गर्भज मनुष्य ही हैं और वे संख्यात् ही हैं। यद्यपि अप्रतिष्ठान नरकावास में तिर्यक भी जाते हैं परन्तु वह नरकावास मात्र लाख योजन का ही होने से उसमें संख्यात् ही नारकी होते हैं, इसलिये तिर्यक, मनुष्यों में से जाने वाले भी संख्यात् ही होते हैं एवं वहाँ जाने का निरन्तरकाल उत्कृष्ट से संख्यात् समय का ही है तथा गर्भज मनुष्य में यद्यपि जाहे जिस किसी भी गति में से आया जा सकता है, परन्तु गर्भज मनुष्यों की संख्या संख्यात् प्रभाण होने से आने वाले जीव भी संख्यात् ही समझना चाहिये।**

अब पहले जो यह कहा गया है कि निरन्तर आठ समय पर्यंत सिद्धत्व प्राप्त करने वाले प्राप्त होते हैं तो उनमें आठ समय पर्यंत कितने भोक्ता में जाते हैं, उसी प्रकार सात, छह आदि समय पर्यंत कितने मोक्ष में जाते हैं? जिज्ञासु के एतद्विषयक प्रश्न का समाधान और विशेष निर्णय करने के लिये बललाते हैं—

बत्तीसा अङ्गयाला सट्ठी बावत्तारी य चुलसीई ।

छन्नउइ दुअट्ठसर्य एगाए जहुत्तरे समए ॥५६॥

**दावदार्थ**—बत्तीस—बत्तीस, अडतालीस—अडतालीस, सठी—सठ, आवश्यकी—बहुतर, य—और, चूलसोई—चौरासी, छमउइ—छिमानबी, दुअट्टसठ—एक सौ दो और एक सौ आठ, एगाए—एक बादि, बहुतरे—अनुक्रम से, सभए—सभयों में।

**गाथार्थ**—बत्तीस, अडतालीस, सठ, बहुतर, चौरासी, छिमानबी, एक सौ दो और एक सौ आठ जीव अनुक्रम से एकादि समयों में मोक्ष जाते हैं।

**बिशेषार्थ**—गाथा में एक से लेकर आठ समय पर्यन्त जघन्य और उत्कृष्ट से जीवों के मोक्ष में जाने की संख्या का प्रमाण बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

एक से बत्तीस संख्या प्रबाध जीव अन्तर आठ समय वर्धता मोक्ष में जाते हैं। अर्थात् पहले समय में जघन्य से एक दो और उत्कृष्ट से बत्तीस मोक्ष में जाते हैं। दूसरे समय में जघन्य से एक दो और उत्कृष्ट से बत्तीस मोक्ष में जाते हैं। इसी प्रकार तीसरे, चौथे यावद् आठवें समय में भी जघन्य से एक दो और उत्कृष्ट से बत्तीस जीव मोक्ष में जाते हैं। तत्पश्चात् अवश्य ही अन्तर पड़ता है। नीवें समय में कोई भी मोक्ष में नहीं जाता है।

इसी प्रकार तेहीस से अडतालीस तक की कोई भी संख्या में जीव निरन्तर उत्कृष्ट से सात समय तक मोक्ष में जाते हैं। तत्पश्चात् अवश्य अंतर पड़ता है।

उभचास से साठ तक की कोई भी संख्या में जीव निरन्तर उत्कृष्ट से छह समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं, उसके बाद अंतर पड़ता है।

इक्सठ से बहुतर की कोई भी संख्या में जीव निरन्तर उत्कृष्ट से पाँच समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं, उसके बाद अवश्य अन्तर पड़ता है।

तिहतर से चौरासी तक की संख्या में जीव निरन्तर उत्कृष्ट से चार समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं, उसके बाद अवश्य अन्तर पड़ता है।

पचासी से हिँड़ियानवै तक की संख्या में जीव उत्कृष्ट से निरन्तर तीन समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं, उसके बाद अवश्य अन्तर पड़ता है।

सत्तानवै से एक सौ दो तक की संख्या में जीव उत्कृष्ट से निरन्तर दो समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं, तदनन्तर अवश्य अन्तर पड़ता है।

एक सौ तीन से एक सौ आठ तक की कोई भी संख्या में जीव उत्कृष्ट से निरन्तर एक समय पर्यन्त ही मोक्ष में जाते हैं। तत्पश्चात् अवश्य अन्तर पड़ता है।

गाथा में अनुक्रम से एक से लेकर आठ समय पर्यन्त जो संख्या का प्रतिपादन किया है, वह पश्चानुभूर्वी से समय की संख्या समझना चाहिए। अतएव उसका अर्थ यह हुआ है कि एक सौ तीन से एक सौ आठ तक की कोई भी संख्या में जीव एक समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं। सत्तानवै से एक सौ दो तक की कोई भी संख्या में जीव उत्कृष्ट से निरन्तर दो समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं। इसी प्रकार यावत् एक से बत्तीस तक की कोई भी संख्या में जीव उत्कृष्ट से निरन्तर आठ समय पर्यन्त मोक्ष में जाते हैं। उसके बाद अवश्य अन्तर पड़ता है।

इस प्रकार सविस्तार कालद्वार का विवेचन पूर्ण करने के बाद अब अन्तरद्वार का निरूपण करते हैं।

### अन्तरद्वार

गव्यतिरिमणुसुरनारयाण विरहो मुहूत्तवारसंग ।

मुच्छिमनराण चउबीस विगल अमणाण अंतमुहू ॥५७॥

शब्दार्थ—गव्य—गर्भज, तिरि—तिर्यक, मणु—मनुष्य, सुर—देव, नारयाण—गारकों का, विरहो—विरहकाल, मुहूत्तवारसंग—वारह मुहूर्त, मुच्छिम—संमुच्छिम, नराण—मनुष्य का, चउबीस—चौबीस, विगल—विकलेन्द्रिय, अमणाण—असंजी पथेन्द्रियों का, अंतमुहू—अन्तमुहूर्त।

**गायत्री** — गर्भज तिर्यच, मनुष्य, देव और नारकों का विरह-काल बारह मुहूर्त, समूच्छिम मनुष्यों का चौबीस मुहूर्त और विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय का विरहकाल अन्तमुहूर्त का है।

**विशेषार्थ**—निरन्तर उत्पद्यमान गर्भज तिर्यच, गर्भज मनुष्य, देव और नारकों का उत्पाद की अपेक्षा उत्कृष्ट विरहकाल बारह मुहूर्त का है। यानि गर्भज तिर्यच और गर्भज मनुष्य में गर्भज तिर्यच और मनुष्य रूप से कोई भी जीव उत्पन्न हो तो उसका विरहकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त है। तत्पद्यमान उनमें कोई न कोई जीव अवश्य उत्पन्न होता ही है।

भवनयति आदि की विवक्षा किये बिना सामान्य से देवगति में उत्पन्न होने वाले देवों का उत्पाद की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त विरहकाल है। अर्थात् देवगति में कोई भी जीव उत्पन्न न हो तो जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त पर्यन्त उत्पन्न नहीं हो, तत्पद्यमान भवनयति आदि किसी न किसी देवनिकाय में कोई न कोई जीव आकर उत्पन्न होता ही है। किन्तु देवगति में असुरकुमार आदि पृथक्-पृथक् भेद की अपेक्षा विचार किया जाये तो उत्पत्ति की अपेक्षा अन्तर इस प्रकार जानना चाहिये—

असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, बायुकुमार, अग्निकुमार, स्तनितकुमार, उदधिकुमार, ढीपकुमार, दिक्कुमार, इस सरह प्रत्येक भवनयति, प्रत्येक भेद वाले व्यंतर, प्रत्येक भेद वाले ज्योतिष्क, सौषर्म और इशान इन सभी देवों में उत्पन्न होने वाले देवों सम्बन्धी विरहकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट चौबीस मुहूर्त है।

समलकुमार देवों में जघन्य एक समय, उत्कृष्ट ती रात्रि दिन और बीस मुहूर्त विरहकाल है।

माहेन्द्रदेवलोक में जघन्य एक समय, उत्कृष्ट बारह रात्रि दिन और दस मुहूर्त, ब्रह्म देवलोक में साठे बार्द्दस दिन, लांतक देवलोक में

पैतालीस रात दिन, महाशुक्र देवलोक में अस्सी रात्रि दिन, सहस्रार देवलोक में सौ रात्रि दिन, आनत देवलोक में संख्यात मास, प्राणत देवलोक में संख्यात मास किन्तु आनत देवलोक की अपेक्षा अधिक जानना। आरण देवलोक में संख्यात वर्ष, अच्युत देवलोक में संख्यात वर्ष किन्तु आरणकल्प के देवों की अपेक्षा अधिक जानना। अधस्तन तीन ग्रैवेयक देवों में संख्यात सौ वर्ष, भृघ्यम ग्रैवेयकश्रिक में संख्यात हजार वर्ष, उपरितन ग्रैवेयकश्रिक में संख्यात लाख वर्ष, विजय, विजयत, जयन्त और अपराजित अनुसार देवों में असंख्यात काल और सर्वथिसिद्ध महाविमानवासी देवों में पल्योपम का संख्यातवां भागरूप उत्पाद सम्बन्धी उत्कृष्ट विरहकाल जानना चाहिए और प्रत्येक का जघन्य विरहकाल एक समय का है।

**सामान्यतः** नरकात्ति में निरन्तर उत्पन्न होते हुए नारकी जीवों का उत्पाद सम्बन्धी विरहकाल जघन्य एक समय और उत्कृष्ट बारह मुहूर्त है। लेकिन पृथक्-पृथक् रत्नप्रभा आदि के नारकों की अपेक्षा से विशेष विचार करें तो विरहकाल इस प्रकार जानना चाहिए—

रत्नप्रभा के नारकों का उत्पत्ति की अपेक्षा उत्कृष्ट विरहकाल जीवों समुहूर्त, शक्तिराप्रभा के नारकों का सात दिन रात, बालुकाप्रभा के नारकों का पञ्चह दिन, पंकप्रभा के नारकों का एक मास, धूमप्रभा के नारकों का दो मास, तमःप्रभा के नारकों का चार मास और तमस्तमप्रभा के नारकों का छह मास उत्कृष्ट विरहकाल है। प्रत्येक नारक का जघन्य विरहकाल एक समय जानना चाहिए।

सम्पूर्ण मनुष्य क्षेत्र में निरन्तर उत्पन्न होते हुए संमूच्छम मनुष्यों का उत्पाद की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट जीवीस मुहूर्त विरहकाल है। संमूच्छम मनुष्य रूप से कोई भी जीव आकर उत्पन्न न हो तो उक्त काल पर्यन्त उत्पन्न नहीं होता है। सत्पश्चात् अवश्य उत्पन्न होता है।

निरन्तर उत्पन्न होते हुए विकलेन्द्रियों—द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय और

चतुरन्द्रियों एवं सम्भूजिष्ठम् तियंच पञ्चन्द्रियों का उत्पत्ति की अपेक्षा जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तमुहूर्त विरहकाल है।

इस प्रकार जीवस्थानों में अनेक जीवाश्रित उत्पत्ति की अपेक्षा अन्तर का विचार<sup>१</sup> करने के बाद अब इन्हीं जीवस्थानों में एक जीव की अपेक्षा अन्तर का प्रतिपादन करते हैं।

**जीवस्थानों में एक जीवापेक्षा अंतर**

तस वायरसाहारणअसन्नि अपुभाष जो ठिकालो ।

सो इयराणं विरहो एवं हरियेयराणं च ॥५८॥

**शास्त्रार्थ—**तस—तस, वायर—वादर, साहारण—साधारण, असन्नि—असंजी, अपुभाष—नपुंसक का, जो—जो, ठिकालो—स्थितिकाल, सो—वह, इयराणं—इतर—स्थावरादि का, विरहो—विरहकाल, एवं—इसी प्रकार, हरियेयराणं—हरित और हर अहरति के, च—और।

**शास्त्रार्थ—**तस, वादर, साधारण, असंजी और नपुंसकदेव का जो स्थितिकाल है, वह इतर—स्थावरादि का विरहकाल समझना चाहिये। इसी प्रकार हरित और अहरित के सम्बन्ध में जानना चाहिये।

**विशेषार्थ—**पूर्व में अनेक जीवों की अपेक्षा अन्तरकाल का विचार किया है कि जैसे देव अथवा नरकाशि में भवान्तर से आकर कोई भी जीव देव या नारक रूप से उत्पन्न न हों तो कितने काल तक उत्पन्न न हों। अब एक जीव की अपेक्षा इसी अंतर का विचार करते हैं कि—

जैसे कोई एक जीव त्रस या वादर है, वह अधिक से अधिक कितने काल में स्थावरत्व या सूखमरुप प्राप्त करता है? तो इसके समा-

१ अनेक जीवों की अपेक्षा अन्तरकाल सम्बन्धी प्रकापनासूत्र-गत विवेचन परिणिष्ठ में देखिये।

धान का सामान्य नियम यह है कि सप्रतिपक्षी एक भेद का जितना स्थितिकाल हो, उसना उसके विपरीत—विरुद्ध भेद का विरहकाल जानना चाहिये। जैसे कि स्थावर या सूक्ष्मपने का विरहकाल कितना? अर्थात् कोई एक जीव कितने काल के बाद स्थावर भाव या सूक्ष्म रूप प्राप्त करता है? इसका निर्णय करना हो तो प्रतिपक्षी भेद व्रस और बादर में उत्कृष्ट से वह जीव कितने काल रहता है, यह विचार कर निर्णय करना चाहिये। अर्थात् एक जीव अधिक से अधिक जितने काल व्रस रूप और बादर रूप में रहता है, उसना स्थावर और सूक्ष्म का अंतरकाल कहलायेगा।

अब इसी संक्षिप्त का विस्तार से विचार करते हैं—

व्रस, बादर, साधारण, असंज्ञी और नपुंसकवेद में से प्रत्येक का जितना स्थितिकाल है, उसना अनुक्रम से उनके प्रतिपक्षी स्थावर, सूक्ष्म, प्रत्येक शरीर, संज्ञी और स्त्री-पुरुष वेद का उत्कृष्ट से विरहकाल रहनाचाहिये। जैसे कि उत्कृष्ट ले छोड़कर पुनः स्थावरेणा प्राप्त करते कितना काल जाता है? तो बतलाते हैं कि जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से व्रसकाय का कायस्थिति काल कुछ वर्ष अधिक दो सागरोपम प्रमाण काल जाता है। जघन्य से अन्तर्मुहूर्त का विचार इस प्रकार से समझना चाहिये कि कोई एक जीव स्थावररूप छोड़कर अन्तर्मुहूर्त की आयु बाले व्रस में आकर पुनः स्थावर में जाये तो उसकी अपेक्षा जघन्य अन्तर्मुहूर्त काल घटित होता है और कोई जीव कुछ अधिक दो हजार सागरोपम व्रस में रहकर मोक्ष में न जाये तो उसके बाद अवश्य स्थावरों में जाता है। इस प्रकार से उत्कृष्ट अन्तर-काल घटित होता है।

इसी प्रकार सूक्ष्मरूप प्राप्त करने पर जघन्य से अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट से बादर का सत्तर कोडीकोडी सागरोपम प्रमाण कायस्थिति काल का अन्तर है<sup>१</sup> तथा प्रत्येक शरीर रूप को छोड़कर साधा-

१ पहाँ सूक्ष्मत्व का उत्कृष्ट अन्तर खलर कोडीकोडी सागरोपम प्रमाण बताया है, किन्तु सामान्य सूक्ष्म की अपेक्षा उसना अंतर घट नहीं सकता

रण शरीर में उत्पन्न होकर पुनः कालान्तर में प्रत्येक शरीरपना प्राप्त करने पर जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट साधारण का अडाई पुदगल-परावर्तन प्रमाण कायस्थितिकाल का अंतर है तथा संज्ञीपना छोड़कर असंज्ञी में उत्पन्न होकर पुनः संज्ञित्व प्राप्त करने पर जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट असंज्ञी का असंख्य पुदगलपरावर्तन कायस्थिति प्रमाण अंतरकाल है। यहाँ असंज्ञी का जो असंख्य पुदगलपरावर्तन प्रमाण कायस्थितिकाल कहा है, वह वनस्पति की अपेक्षा जानना चाहिये। क्योंकि संज्ञी के अलावा ज्ञेय एकेन्द्रियादि सभी असंज्ञी हैं, जिससे उनका उपर्युक्त विरहकाल घटित हो सकता है।

पुरुषवेद अथवा स्त्रीवेद को छोड़कर वेदान्तर में आकर पुनः उन्हें प्राप्त करने पर जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट उन दोनों का नपुंसकवेद की असंख्य पुदगलपरावर्तन प्रमाण कायस्थिति के काल का अंतर है। यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि पुरुषवेद के विरहकाल का विचार करने में स्त्रीवेद का कायस्थितिकाल अधिक जीवा चाहिये और स्त्रीवेद के विरहकाल का विचार करने में पुरुषवेद का कायस्थितिकाल अधिक ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि नपुंसकवेद के कायस्थितिकाल की अपेक्षा स्त्रीवेद का पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक सौ पल्थोपम प्रमाण अथवा पुरुषवेद का कुछ वर्षे अधिक शतपृथक्त्व सागरोपम

है। पश्च शास्त्रा ५० में सामान्य बादर की स्वकायस्थिति असंख्यात उत्सर्पिणी-अबसर्पिणी प्रमाण बतलाई है। जिसका अर्थ यह हुआ कि सूक्ष्म का उत्कृष्ट अंतर भी असंख्य उत्सर्पिणी-अबसर्पिणी प्रमाण संभव है। जिससे पृथ्वीकायादि किसी भी विविधत एक काय में ही सूक्ष्म पृथ्वीकायादिक के अंतर का विचार करें तो सूक्ष्म पृथ्वीकाय जीव सुस्तर कोडाहोड़ी सागरोपम प्रमाण बादर पृथ्वीकाय जीव की स्वकायस्थिति पूर्ण कर पुनः सूक्ष्म पृथ्वीकाय में आये तो उस अपेक्षा उस अंतर घट सकता है। जिसे बहुभूतगम्य है।

प्रमाण कायस्थितिकाल अल्प ही है। इस प्रकार स्थावर, सूक्ष्म, प्रत्येक शरीर, संज्ञी और स्त्री-पुरुषवेद का अंतर जानना चाहिये।

अब व्रत, बादर, साधारण, असंज्ञी और नपुंसकवेद के अंतर का निर्देश करते हैं—

स्थावर, सूक्ष्म, प्रत्येक शरीरी, संज्ञी और स्त्री-पुरुषवेद में से प्रत्येक का जो कायस्थितिकाल है, वह अनुक्रम से व्रत, बादर, साधारण, असंज्ञी और नपुंसकवेद का विरहकाल समझना चाहिये। ऐसे कि व्रत अदस्था छोड़कर स्थावर में उत्पन्न हो पुनः असत्त्व प्राप्त करने पर जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट स्थावर का आवलिका के असंख्यात वें भाग में रही हुई समयराशि प्रमाण असंख्य पुद्गलपरावर्तनरूप कायस्थिति विरहकाल जानना चाहिये तथा बादरभाव को छोड़कर सूक्ष्म एकेन्द्रिय में उत्पन्न होकर पुनः बादरभाव को प्राप्त करने पर जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट सूक्ष्म का असंख्यात लौकाकाश के प्रदेशों का प्रतिसमय अपहार करने के द्वारा उत्पन्न हुई असंख्यात उत्सविणी-अवसर्पिणी प्रमाण कायस्थिति विरहकाल जानना चाहिये तथा निगोदपने को छोड़कर प्रत्येक शरीरी में उत्पन्न हो पुनः कालान्तर में निगोद में उत्पन्न होने पर जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट प्रत्येक शरीरी का असंख्यात उत्सविणी-अवसर्पिणी प्रमाण कायस्थिति विरहकाल जानना चाहिये तथा असंज्ञीपने को छोड़कर संज्ञी में उत्पन्न हो पुनः असंज्ञीभाव को प्राप्त करने पर जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट संज्ञीपने का कुछ वर्ष अधिक शतपृथक्त्व सामरोपम कायस्थिति प्रमाण अंतरकाल है और नपुंसकपने को स्थापकर पुरुषवेदों या स्त्रीवेदी में उत्पन्न हो पुनः नपुंसकवेद को प्राप्त करने पर जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट स्त्रीवेद और पुरुषवेद की कायस्थिति प्रमाण अंतरकाल है। स्त्रीवेद का उत्कृष्ट कायस्थितिकाल पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक सौ पल्योपम प्रमाण और पुरुषवेद का कायस्थितिकाल कुछ वर्ष अधिक शतपृथक्त्व सामरोपम प्रमाण समझना चाहिये।

इसीप्रकार वनस्पति और अवनस्पतिपने का भी अन्तरकाल जानना चाहिये । जैसे कि वनस्पति को छोड़कर अन्य अवनस्पति पृथ्वी आदि में उत्पन्न हो पुनः वनस्पतिपने को प्राप्त करने पर जबन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट अवनस्पतिपने का असंल्यात उत्सप्तिणी-अवस-पिणी प्रमाण कायस्थिति रूप अंतरकाल जानना चाहिये तथा अवन-स्पति रूप का त्यागकर वनस्पति में उत्पन्न हो पुनः अवनस्पतिपना प्राप्त करने पर जबन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट वनस्पतिकाय की असंल्यात पूदगलपरावर्तन रूप कायस्थिति अंतरकाल समझना चाहिए और पञ्चेन्द्रिय का अंतरकाल अपञ्चेन्द्रिय की कायस्थितिकाल प्रमाण और अपञ्चेन्द्रिय का अंतरकाल पञ्चेन्द्रिय का कायस्थितिकाल प्रमाण जानना चाहिए तथा मनुष्य का अमनुष्य कायस्थितिकाल प्रमाण और अमनुष्य का मनुष्य कायस्थितिकाल प्रमाण उत्कृष्ट अंतरकाल समझना चाहिए ।

इसो प्रकार सर्वेन्द्र पूर्वपिर का विचार करके अंतरकाल जान लेना चाहिए किन्तु जबन्य तो सर्वेन्द्र अन्तमुहूर्तकाल समझना चाहिये ।

इस प्रकार से मनुष्य तिर्यचगति सम्बन्धी एक जीवाश्रित अंतरकाल बताने के बाद अब देवगति में अंतरकाल का वर्णन करते हैं ।  
**देवगति सम्बन्धी अंतरकाल**

**आईसाणं अमरस्त अंतरं हीणयं मुहुर्तंतो ।**

**आसहसारे अच्युयणुस्तर दिण मास वास नव ॥५६॥**

**शाङ्खार्थ—आईसाण—**ईशान देवलोक पर्यन्त के, अमरस्त—देवों का अंतर—अस्तर, हीणय—जघन्य, मुहुर्सीतो—अन्तमुहूर्त, आसहसारे—सहस्रार सक के, अच्युयणुस्तर—अच्युत और अनुस्तर तक के, विष—दिन, मास—मास, वास—वर्ष, नव—नौ ।

**गाथार्थ—**ईशान देवलोक तक के देवों का जघन्य अंतर अन्त-मुहूर्त और सहस्रार तक के, अच्युत तक के और अनुस्तर तक के देवों का अन्तर अनुक्रम से नौ दिन, नौ मास और नौ वर्ष का है ।

**विशेषार्थ**—इस गाथा में देवों सम्बोधी अंतरकाल बतलाया है कि भवनपति से लेकर ईशान देवलोक तक का कोई भी देव अपनी देवनिकाय में से च्यवकर पुनः वह भवनपति आदि में उत्पन्न हो तो उसका जघन्य अन्तर अन्तमुहूर्त है। यह जघन्य अन्तर अन्तमुहूर्त इस प्रकार से घटित होता है कि भवनपति, अन्तर, जीवोत्तिष्ठक, सौधर्म अथवा ईशानकल्प में से कोई भी देव च्यव कर गर्भज मत्स्यादि में उत्पन्न होकर सभी पर्याप्तियों से पर्याप्त होने के बाद वहाँ तीव्र ज्योतिषम के प्रभाव से उत्पन्न हुए जातिस्मरण आदि ज्ञान के द्वारा पूर्वभव का अनुभव करने से अथवा इसी प्रकार के अन्य किसी कारण से धर्म सम्बोधी शुभ भावना को भाले हुए उत्पन्न होने के बाद अन्तमुहूर्त काल में भरण को प्राप्त कर उसी अपनी देवनिकाय में उत्पन्न होता है तो ऐसे जीव की अपेक्षा जघन्य अंतरकाल अन्तमुहूर्त घटित होता है। तथा उत्कृष्ट अंतर भवनपति आदि में से च्युत होकर वनस्पति आदि में भ्रमण करते हुए जीवजिका के असंख्यात्मक भाग के समय प्रमाण असंख्य पुद्गलपरावर्तन काल है।

**अब सनकुमार आदि का जघन्य अंतर बतलाते हैं—**

सनकुमार से लेकर सहस्रारकल्प तक के किसी भी देवलोक में से च्यवकर पुनः अपने उसी देवलोक में उत्पन्न होने वाले देवों का जघन्य अन्तर नहीं दिन का है। ईशान देवलोक तक आने के योग्य परिणाम तो अन्तमुहूर्त आयु वाले के भी ही सकते परन्तु ऊपर-ऊपर के देवलोकों में जाने का जीवार अनुक्रम से उत्तरोत्तर विशुद्ध-विशुद्ध परिणाम है।

१ कोई जीव अपर्याप्त अक्षम्य में देवगतियोग्य कर्मवैध करता नहीं है। इसीलिये पर्याप्त को अहण किया है। पर्याप्त होने के अनन्तर इसी प्रकार के उत्तम निमित्त मिलने पर शुभ भावना के बग अन्तमुहूर्त में ही देवगति योग्य कर्मवैध कर भरणोपराप्त ईशान देवलोक पर्यन्त उत्पन्न ही सकता है।

और प्रब्रह्मान परिणामों का आवार उत्तरोत्तर अधिक अधिक मन की सबलता है तथा मन की सबलता अनुक्रम से वय की वृद्धि पर आधारित है। यानि अभुक उम्रों वाले को अभुक सीमा तक के विशुद्ध परिणाम ही सकते हैं और उसके द्वारा उस-उसके योग्य कर्म बोध कर अभुक देवलोक पर्यन्त जा सकता है। अतः सनल्कुमार से सहस्रार देवलोक तक में उत्पन्न होने योग्य विशुद्ध परिणाम नौ दिन की आयु वाले के हो सकते हैं। जिससे नौ दिन की आयु वाले अति विशुद्ध सम्यग्हटित का सहस्रार देवलोक पर्यन्त गमन संभव है।

आनन्दकल्प से लेकर अच्युत देवलोक तक के देवों में से चयव कर भनुष्य में उत्पन्न हो पुनः आनन्दादि देवलोक में उत्पन्न होने का जघन्य अन्तरकाल नौ मास है। क्योंकि आनन्द से अच्युत देवलोक तक में उत्पन्न होने योग्य विशिष्ट विशिष्टतर परिणाम नौ मास की आयु वाले के संभव हैं। अतएव कम से कम उत्तमी आयु वाला विशिष्ट विशिष्टतर परिणाम के योग से आमत से लेकर अच्युत पर्यन्त देवलोकों में जाने योग्य कर्मों का उपार्जन कर वहाँ जाता है।

प्रथम ग्रंथेयक से लेकर सवर्धिसिद्ध महाविमान को छोड़कर शेष चार अनुत्तर तक के देवों में से चयवकर भनुष्य हो पुनः अपने उसी देवलोक में उत्पन्न होने का जघन्य अंतर नौ वर्ष है। क्योंकि प्रकृष्ट चारित्र्यान आत्मा ग्रंथेयक आदि में उत्पन्न होती है और प्रकृष्ट द्रव्य और भाव चारित्र की प्राप्ति नौ वर्ष की आयु वाले के संभव है। अतः वैसी आत्मा का अनुत्तर देवों तक गमन सम्भव है। सवर्धिसिद्ध महाविमान में से चयवकर भनुष्य हो पुनः सवर्धिसिद्ध में कोई जाता नहीं, परन्तु मोक्ष में जाता है, इसलिये इसका निषेध किया है।

इस प्रकार से इशान आदि देवलोकों का जघन्य अंतर निर्देश करने के बाद अब पूर्वोक्त स्थानों का उल्कृष्ट अंतर बतलाते हैं—

थावरकालुकोसो सव्वट्ठे लीयबो न उववायो ।

दो अयरा विजयाइसु नरएसु विद्याणुमाणेऽ ॥६०॥

शब्दार्थ—जा इरकालुकोसो—स्थावर का उल्कृष्ट काइस, सव्वट्ठे—सवरी-

वैसिद्ध में, शीघ्रओ—दूसरी बार, न—नहीं, उबलाओ—उपरात-जन्म, वी—दो, अयरा—सागरोपम, विजयाद्वासु विजयादिकों में, नरएसु—नरकों में, विद्यामूमाणेण—अनुमान से जानना चाहिये।

**शार्थार्थ**—ये वेयक तक के देवों का उत्कृष्ट अंतरकाल स्थावर का काल समझना चाहिये। सर्वर्थसिद्ध विमान में दूसरी बार उपरात नहीं होता है। विजयादि में दो सागरोपम अंतरकाल हैं और नरकों में इसी अनुमान से अंतरकाल जानना चाहिये।

**विशेषार्थ**—भवनपति से लेकर नीबंगे ये वेयक तक के सभस्त देवों में से च्यवकर पुनः अपनी उसी देवनिकाय में उत्पन्न होने का उत्कृष्ट अंतर स्थावर की स्वकायस्थिति आवलिका के असंख्यातवे भाग में रहे हुए सभय प्रमाण असंख्यात पुद्यगलपरावर्तन रूप काल जानना चाहिए।

‘सध्वद्वृ वीयओ न उबवाओ’ अर्थात् सर्वर्थसिद्ध महाविमान के देव वहाँ से च्यव कर मनुष्य हो उसी भव से मोक्ष में जाते हैं। क्योंकि वे सभी एकावलारी होते हैं, जिससे वे पुनः सर्वर्थसिद्ध महाविमान में उत्पन्न नहीं होते हैं। इसलिये उनमें जघन्य या उत्कृष्ट किसी भी प्रकार का अंतर नहीं होता है।

विजय, वीजयत्त, जयन्त और अपराजित इन चार अनुसार देवों में से च्यवकर मनुष्य हो विजयादि देवों में उत्पत्ति का उत्कृष्ट अंतर दो सागरोपम का है—‘दो अयरा विजयाद्वासु’<sup>१</sup> क्योंकि विजयादि में से च्यवकर पुनः विजयादि में उत्पन्न हो तो मनुष्य और सौधर्मादि

१ विजयादि में से च्यवित हुआ जीव नारकों या तिर्यचों में उत्पन्न नहीं होता है। अधिक से अधिक दो सागरोपम काल मनुष्य और सौधर्मादि देव जबकों में अतीत कर विजयादि में उत्पन्न हो मोक्ष में जाता है। विजयादि में जया हुआ जीव पुनः विजयादि में जाये, ऐसा कोई नियम नहीं है। मोक्ष में जाये और विजयादि में जाये तो उपर्युक्त उत्कृष्ट अंतर संभव है।

देव भवों में उत्कृष्ट दो सागरोपम काल विशेषज्ञ करके उत्पन्न होता है।<sup>१</sup>

नरकों में भी इसी अनुमान के द्वारा जघन्य और उत्कृष्ट अंतर समझ लेना चाहिये। यानि कोई भी नरक में से च्यवकर पुनः उस नरक में उत्पन्न हो तो उत्पत्ति का जघन्य अंतर अन्तमुहूर्त है। अंतमुहूर्त की आयुवाला कोई संकिळण-परिणाम के योग से नरकयोग्य कर्म का उपार्जन कर नरक में जाता है। जैसे कि अन्तमुहूर्त की आयुवाला तंदुलभच्छ सातवें नरक में जाता है और उत्कृष्ट अंतर स्थावर का असंख्यात पुद्गलपरावर्तन रूप कायथस्थिति काल है। उत्कृष्ट से इतना काल बनस्पति आदि में भटक कर उस नरक में जा सकता है।

इस प्रकार जीवस्थानों में एक जीव की अपेक्षा अन्तर का विचार करने के बाद अब एक जीवापेक्षा गुणस्थानों में अन्तर का कथन करते हैं।

**एक जीवापेक्षा गुणस्थानों में अभ्यास**

**पलियासंखो सासायण्टरं सैसगाण अंतमुहू ।**

**मिच्छस्स वे छसट्ठी इयराणं पोगालद्वंतो ॥६१॥**

१ जीवापेक्षासूत्र में तो मरणस्थिति से लेकर सहस्रार कल्प तक के देवों में जघन्य अन्तर अन्तमुहूर्त और आनन्द कदर से लेकर सर्वार्थतिष्ठ महाविभान को छोड़कर शेष विजयादि चार विमान के देवों में वर्षपृथक्षस्त्र और उत्कृष्ट अंतर शेषेष कदर के देवों में बनस्पति का असंख्यात पुद्गलपरावर्तन रूप काल और विजयादि चार में संख्यात मात्रारेष्य प्रमाणकाल कहा है। उक्त प्रथा का सम्बन्धित याठ इस प्रकार है—

‘भवणवासिदेषपुरिसाणं जाव सहस्राणे तत्व जहन्नेण अंतोमुहूर्तं, उक्तोसेण वणस्सप्रकालो। शाणवदेवपुरिसाणं भर्त्ते केषदृष्टं कालं अंतरं हीइ ? गोवमा ! जहन्नेण वासमुहूर्तं, उक्तोसेण वणस्सप्रकालो। एवं गोवदेवपुरिसत्प्रविदि अण्तरोवदाइयदेवपुरिसस्त्र जहन्नेण वासमुहूर्तं, उक्तोसेण संविजजाइं सागरोवमाइं’ इति ।

**शास्त्री—पतियासठी**—पत्न्य का असंख्यात्मक भाग, सासाधनवर्ते—सासादन गुणस्थान का अन्तर, सेसगाम—शेष गुणस्थानों का, अस्तमुह—अन्तर मुँहते, मिथ्यात्व—मिथ्यात्व का, के—ओ, घरदली—घियासठ सागरोपम, इष्टदारी—इतरों शेष का, शोधलज्जा हो—अर्थं पुरुष अपरावर्तन।

**गाथाणी—सासादन गुणस्थान** का जघन्य अन्तर पत्न्योपम का असंख्यात्मक भाग और शेष गुणस्थानों का अन्तर मुँहते हैं। मिथ्यात्व का उत्कृष्ट अन्तर दो घियासठ सागरोपम और शेष गुणस्थानों का (कुछ कम) अर्थं पुरुषलपरावर्तन है।

**विशेषार्थ**—गाथा में एक जीव की अपेक्षा गुणस्थानों का जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर बतलाया है कि किसी भी गुणस्थान से गिरकर पुनः उस-उस गुणस्थान की कम से कम और अधिक से अधिक कितने काल में प्राप्त करता है। ऐसे जघन्य अन्तर का निर्देश करते हुए कहा है—

सासादन गुणस्थान का जघन्य अन्तर पत्न्योपम का असंख्यात्मक भाग है। अर्थात् कोई जीव यदि सासादनभाव का अनुभव कर वहाँ से गिरकर पुनः सासादनभाव को प्राप्त करे तो अवश्य जघन्य से भी पत्न्योपम का असंख्यात्मक भाग अमाप्तकाल जाने के बाद ही शाप्त करता है, इससे पूर्व नहीं। इससे पूर्व प्राप्तन करने का करण यह है कि अधिकारिक सम्बन्ध प्राप्त कर वहाँ से अनंतामुख्यिकाय के उदय से गिरकर ही सासादनभाव को अप्त करता है। उपराम सम्बन्ध प्राप्त किये बिना कोई जीव सासादनभाव में नहीं जा सकता है। सासादन से गिरकर मिथ्यात्वमें आकर दूसरी बार उपराम सम्बन्ध प्राप्त हो तो खोहनीय की छल्लीस प्रकृतियों की सत्ता होने के बाद यथाप्रवृत्ति आदि दोनों तरण करते पर ही प्रमित होती है। खोहनीय कमे भी छल्लीस प्रकृतियों की सत्ता मिथ्य और सम्बन्ध पुरुष की उद्देश्यता करे तब होती है वो उन दोनों की उद्देश्यता पत्न्योपम के असंख्यात्मक भाग प्रसाद कालमें होती है, जिससे प्रह्लकेपम

के असंख्यातवें भाग जितने काल में सम्यक्त्व और मिश्र भीहनीय की छद्दूलना करके छब्बीस की सत्ता बाला हीकर उत्काल ही तीन करण करके उपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर वहाँ से गिरकर सासादन में आये तो उसकी अपेक्षा सासादन का अधम्य अन्तर पर्योगम का असंख्यातको भाग घटित होता है।<sup>१</sup>

'सेसगाण अन्तमुहूः' अर्थात् योष यानी सासादन गुणस्थान के सिवाय योष रहे मिथ्याहृष्टि, सम्यग्मिथ्याहृष्टि, अविरतसम्बग्हृष्टि, देवदिरति, प्रमस्तविरति, अप्रमस्तविरति, उपशमथैषि सम्बन्धी अपूर्वकरण, अनिवृत्तिबादरसंपराय, सूडमसंपराय और उपशान्तमोह, इन उस गुणस्थानों का अद्यता अन्तमुहूर्ते रहाण है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है कि मिथ्याहृष्टि आदि अपने-अपने उस-उस गुणस्थान को छोड़कर अन्य गुणस्थान में जाकर पुनः अपने-अपने उस-उस गुणस्थान को अन्तमुहूर्ते काल जाने के बाद प्राप्त कर सकते हैं।<sup>२</sup>

१ किसी जीव ने मिथ्याहृष्टि में तीन करण करके उपशमसम्यक्त्व प्राप्त किया और वहाँ से गिरकर वह सासादन को स्वर्ण कर पहले गुणस्थान में आये, वहाँ अन्तमुहूर्ते रह, क्षायोपशमिक सम्बन्धत्व प्राप्त कर ऊपर के गुणस्थानों में जाकर अन्तमुहूर्ते थैषि का उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करके उपशमथैषि पर आरूढ़ हो। उसके बाद थैषि से गिरकर अन्तमुहूर्ते में ही सासादन का स्वर्ण कर सकता है। इस प्रकार से सासादन की स्वर्णका का जब्त्य अन्तर अन्तमुहूर्ते भी सम्भव है। लेकिन उसको यहाँ विवेका नहीं की है।

२ कोई भी जीव पहले गुणस्थान से थीये, पांचवें गुणस्थान में जाकर वहाँ ही गिरकर पहले में आकर और अन्तमुहूर्ते काल में क्षायोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर थीये, पांचवें गुणस्थानों में जा सकता है और छठा, सातवें गुणस्थान तो प्रत्येक अन्तमुहूर्ते में बदलता ही रहता है। इसलिये उनका भी अन्तमुहूर्ते अन्तरासंभव है।

प्रश्न—उपशमधेर्णिवर्ती अपूर्वकरणादि का भाव अन्तमुहूर्त अन्तरकाल कैसे है ? क्योंकि प्रत्येक गुणस्थान का अन्तमुहूर्त-अन्तमुहूर्त काल है । आठवें से प्रत्येक गुणस्थान में अन्तमुहूर्त-अन्तमुहूर्त रहकर खारहृष्टे में जाये और वहाँ भी अन्तमुहूर्त रहकर वहाँ से गिरकर अनुरूपन से लातपै, छठे गुणस्थान में आकर अन्तमुहूर्त के बाद श्रेणि पर आरूढ़ हो तब अपूर्वकरणादि का स्पर्श करता है, जिससे काल अधिक होता है, अन्तमुहूर्त कैसे हो सकता है ?

उत्तर—उपशमधेर्णि का सम्पूर्ण काल भी अन्तमुहूर्त है । उपशमधेर्णि से गिरने के बाद कोई आत्मा फिर से भी अन्तमुहूर्त के बाद उपशमधेर्णि को प्राप्त कर सकती है और अपूर्वकरणादि गुणस्थान को स्पश करती है, जिससे जघन्य अंतर अन्तमुहूर्त घटित होता है । अथवा अन्तमुहूर्त के असंख्यात भिन्न हैं, जिससे अपूर्वकरणादि गुणस्थान के बाद अनिवृत्तिवादेर और सूक्ष्मसंपराय आदि प्रत्येक गुणस्थान में अन्तमुहूर्त-अन्तमुहूर्त रहने पर भी और श्रेणि पर से गिरने के बाद अन्तमुहूर्त जाने के बाद अन्तमुहूर्त-अन्तमुहूर्त काल प्रभाण तीन करण करके विवक्षित अपूर्वकरणादि गुणस्थान का स्पर्श करने पर भी यदि अंतर का विचार करें तो अन्तमुहूर्त ही होता है, अधिक नहीं । क्योंकि गुणस्थान का अन्तमुहूर्त छोटा है और अंतरकाल का बड़ा है, जिससे कोई विरोध नहीं है ।

प्रश्न—अंतरकाल के विचार के प्रसंग में उपशमधेर्णिवर्ती अपूर्वकरणादि की विवक्षा क्यों की है, क्षपकश्रेणिवर्ती ग्रहण क्यों नहीं किये हैं ?

उत्तर—क्षपकश्रेणिवर्ती अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में पतन का अभाव होने से पुनः वे गुणस्थान प्राप्त नहीं होते हैं । जिससे क्षपकश्रेणिवर्ती अपूर्वकरणादि गुणस्थानों में अंतर का अभाव है और इसी हेतु से अर्थात् पतन का अभाव होने से क्षीणमोह, सयोगिकेवली और

अयोगिकेवली गुणस्थानों के अंतर का भी विचार नहीं किया है। क्योंकि वे प्रत्येक गुणस्थान एक बार ही प्राप्त होते हैं।

प्रश्न—अंतरकाल में दो बार उपशमश्रेणि का प्राप्त क्यों किया गया है?

उत्तर—एक बार उपशमश्रेणि प्राप्त करके उसी भव में दूसरी बार क्षपकश्रेणि प्राप्त नहीं करता है। क्योंकि सिद्धान्त के अभिप्राय-नुसार एक भव में दोनों श्रेणियों की प्राप्ति असंभव है। जैसा कि कहा है—

अन्तरसेदिवज्ञं एषमवेण च सखाई ।<sup>१</sup>

दोनों श्रेणियों में से अन्यसर श्रेणि को छोड़कर एक भव में देश-विरति, सर्वविरति आदि समस्त भाव प्राप्त होते हैं और श्रेणि दोनों में से एक ही या तो उपशमश्रेणि या क्षपकश्रेणि प्राप्त होती है। इसीलिये दोनों बार उपशमश्रेणि विवरि अपूर्वकरणादि गुणस्थानों की विवक्षा की है।<sup>२</sup>

इस प्रकार गुणस्थानों के जघन्य अन्तरकाल का विचार करने के बाद अब उत्कृष्ट अंतरकाल का विचार करते हैं।

‘मिष्ठस्स’ इत्यादि अर्थात् मिष्ठाहृष्टि गुणस्थान से अविरत सम्बन्धित आदि गुणस्थानों में जाकर वहाँ से विरकर पुनः मिष्ठात्वं गुणस्थान को प्राप्त करे तो उसका उत्कृष्ट अंतरकाल एक सी वसीस सागरीपम प्रमाण है।

१ बृहत्कालप्रभाष्य

२ उपर्युक्त अभिप्राय सुवकार का है, कभीप्रभकार का नहीं। कर्मप्रभकार के भव से तो एक भव में उपर्युक्त और क्षपक दोनों श्रेणियों प्राप्त हो सकती हैं। यानि उपशमश्रेणि प्राप्त कर वहाँ से पतन कर अन्तस्मृद्वर्त काल में क्षपकश्रेणि प्राप्त करे और वपुर्वकरणादि गुणस्थानों को स्पर्श करे तब भी अन्तस्मृद्वर्त काल प्रमाण विवकार में कोई विरोध नहीं है।

यह एक सौ बत्तीस सागरोपम प्रमाणकाल इस प्रकार जानना चाहिये कि कोई एक मिथ्यावृष्टि क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त करके छिकासठ सागरोपम पर्यन्त क्षायोपशमिक सम्यक्त्व युक्त रह सकता है। उसके बाद जीव में अन्तर्मुहूर्त काल मिथ्यावृष्टि गुणस्थान का स्पर्श कर पुनः क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर छिकासठ सागरोपम पर्यन्त उसका अनुभव करता है। इस प्रकार एक सौ बत्तीस सागरोपम के बाव कोई धन्य जीव मोक्ष को प्राप्त करता है अथवा कोई अधन्य जीव मिथ्यात्व को प्राप्त करता है। उनमें जो मिथ्यात्व को प्राप्त करता है उसके मिथ्यात्व से ऊपर के गुणस्थान में जाकर पुनः मिथ्यात्व गुणस्थान प्राप्त करने में उपर्युक्त उत्कृष्ट अंतरकाल घटित होता है।

**प्रश्न**—जब पूर्वोक्त कथन के अनुसार मिथ्यात्व गुणस्थान का कुल मिलाकर अन्तर्मुहूर्त अधिक एक सौ बत्तीस सागरोपम प्रमाण विरह-काल होता है तब गाथा में परिपूर्ण एक सौ बत्तीस सागरोपम का संकेत क्यों किया है?

**उत्तर**—अन्तर्मुहूर्त काल का बहुत ही छोटा-सा अंश होने से यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की है। इसलिये इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है।

‘इत्यराणं पौगलद्व’ तो’ अर्थात् मिथ्यात्व गुणस्थान को छोड़कर सासादन गुणस्थान से लेकर उपशांतमोह तक के प्रस्तेक गुणस्थान को पुनः प्राप्त करने का उत्कृष्ट काल कुछ कम अर्ध पुद्गलपरावर्तन प्रमाण है। क्योंकि सासादन आदि किसी भी गुणस्थान से गिर कर पहले गुणस्थान में आने वाली आत्मा वहाँ अधिक से अधिक कुछ कम अर्ध पुद्गलपरावर्तन पर्यन्त रहती है। तत्पश्चात् अवश्य ही ऊपर के गुणस्थान में जाती है, जिससे उतना ही उत्कृष्ट अंतर होता है।

इस प्रकार एक जीव की अपेक्षा गुणस्थानों में अंतरकाल बतलाने के पश्चात् अब अनेक जीवों की अपेक्षा अंतरकाल बतलाते हैं।

**अनेक जीवाधेकर गुणस्थानों का अंतर**

बासपुहुत्ता उवसामग्रण विरहो छमास खचमाण ।

**नाणाजीएसु सासाणभीसारण पल्लसखेसो ॥६२॥**

शब्दार्थ—बासपुहुत्ता—विरहो छमास खचमाण—उपशमक गुणस्थानों का, विरहो—विरह—अंतर, अप्राप्त—छह मास, खचमाण—क्षपक गुणस्थानों का, नाणाजीएसु—अनेक जीवों में, सासाणभीसारण—सासादन और विश्रुत, पल्लसखेसो—पल्य का असंख्यात्मक भाग ।

गाथार्थ—अनेक जीवों की अपेक्षा उपशमक अपूर्वकरणादि गुणस्थानों का उल्कृष्ट अंतर वर्षपृथक्स्व, क्षपक अपूर्वकरणादि गुणस्थानों का छह मास और सासादन व मिश्र गुणस्थानों का पल्योपम का असंख्यात्मक भाग है ।

विशेषार्थ—जैसे ऊर की गाथा में एक जीव की अपेक्षा गुणस्थानों का अंतरकाल बतलाया है, उसी प्रकार इस गाथा में अनेक जीवों की अपेक्षा विरहकाल यानी अयोगिकेवली आदि गुणस्थान को कोई भी जीव प्राप्त न करे तो कितने काल प्राप्त नहीं करता है, बतलाते हैं । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

अनेक जीवों की अपेक्षा उपशमश्रेणिकर्त्ती अपूर्वकरण से लेकर उपशांत मोहू तक के किसी भी गुणस्थान का उल्कृष्ट अंतर वर्षपृथक्स्व है । तात्पर्य यह है कि इस जगत में उपशुक्त चार गुणस्थानों में कोई भी जीव सर्वथा न हो तो वर्षपृथक्स्व पर्यन्त नहीं होता है । उसके बाद कोई न कोई जीव उस गुणस्थान को अवश्य प्राप्त करता है तथा क्षपकश्रेणिकर्त्ती अपूर्वकरण से लेकर क्षोणमोहू तक के किसी भी गुणस्थान को और उपलक्षण से अयोगिकेवली गुणस्थान को कोई भी जीव प्राप्त न करे तो छह मास पर्यन्त प्राप्त नहीं करता है, तत्पश्चात् कोई न कोई जीव अवश्य प्राप्त करता है । अधिक से अधिक छह मास पर्यन्त

ही सम्पूर्ण जीवलोक में उक्त गुणस्थानों में कोई भी जीव नहीं होता है।

सासादन और मिश्रहृष्टि इन दोनों गुणस्थानों का उल्कृष्ट अंतर पल्योपम का असंख्यातव्य भाग प्रमाण है। किसी भी काल में सम्पूर्ण लोक में भी पल्योपम के असंख्यातव्य भाग प्रमाणकाल पर्यन्त सासादन और मिश्र इन गुणस्थानों में कोई जीव नहीं होता है, तत्पश्चात् अबश्य उन गुणस्थानों में कोई न कोई जीव आता है।

मिश्रहृष्टि, अविरतसम्यग्हृष्टि, देशविरत, प्रभसविरत, अप्रभसविरत और सयोगिकेवली इन छह गुणस्थानों में सदैव जीव होते हैं, जिससे उनके अंतरकाल का विचार नहीं किया जाता है।

इस प्रकार से अनेक जीवों की अपेक्षा गुणस्थानों का अंतरकाल अतलाने के बाद अब यह स्पष्ट करते हैं कि अविरतसम्यग्हृष्टि आदि गुणस्थानों को जीव उल्कृष्ट से किनमे अंतर से प्राप्त करता है—

सम्माई तिनि गुणा कमसो सगच्छोदपन्नरदिणाणि ।

सम्मास अजोगित्तं न कीवि पदिवज्जए सययं ॥६३॥

**शब्दार्थ—** सम्माई—सम्यक्त्व आदि, तिनि—तीन, गुण—गुणस्थान, कमसो—अनुकूल से, सग—सात, चोह—चौदश, पन्नर—पन्द्रह, दिणाणि—दिन, सम्मास—छह माह, अजोगित्त—अयोगीपने को, न—नहीं, कोई—कोई भी, पदिवज्जए—प्राप्त करता है, सयय—सतत, निरन्तर।

**गाथार्थ—**(अविरत) सम्यक्त्व आदि तीन गुणस्थानों को अनुकूल से सात, चौदश, पन्द्रह दिन और अयोगीपने को छह मास पर्यन्त कोई जीव प्राप्त नहीं करता है।

**विशेषार्थ—** यद्यपि ऊपर यह बताया है कि अविरतसम्यग्हृष्टि आदि तीन गुणस्थानों में जीव निरन्तर होते हैं, इसीलिये उनका अंतर नहीं कहा है, परन्तु अब यह बतलाते हैं कि अन्य अन्य जीव उस गुण

स्थान को प्राप्त नहीं करें तो अधिक से अधिक किसने काल पर्यन्त प्राप्त नहीं करते हैं। जिसका सफलीकरण इस प्रकार है—

किसी समय अविरतसम्यग्हटि, देशविरत और सर्वविरत इन तीन मुण्डस्थानों को अनुकूल से सात चौदह और पन्द्रह दिन पर्यन्त निरन्तर कोई भी जीव प्राप्त नहीं करता है। अर्थात् किसी समय ऐसा भी संभव है कि सम्पूर्ण जीवलोक में अविरतसम्यग्हटि मुण्डस्थान को कोई भी जीव प्राप्त न करे तो उत्कृष्ट से सात दिन पर्यन्त प्राप्त नहीं करता है, उसके बाद अवश्य कोई न कोई जीव प्राप्त करता है। उसी तरह देशविरत मुण्डस्थान को चौदह दिन और सर्वविरत मुण्डस्थान को पन्द्रह दिन पर्यन्त प्राप्त नहीं करता है तथा अयोग्यिकेवली मुण्डस्थान को यह मात्र पर्यन्त कोई भी जीव प्राप्त नहीं करता है, तत्पश्चात् अवश्य प्राप्त करता है। उक्त कथन उत्कृष्ट की अपेक्षा समझना चाहिये और जघन्य से तो एक समय के बाद भी कि मुण्डस्थान पुनः प्राप्त हो सकते हैं।

इस प्रकार से अंतरद्वार की वक्तव्यता जानना चाहिये। अब भागद्वार कहने का अवसर प्राप्त है, किन्तु उसका अत्यबहुत्वद्वार में समावेश हो जाने से कि अमुक जीव, अमुक की अपेक्षा संख्यात्, असंख्यात् या अनन्त मुण्डे हैं और अमुक जीव पूर्व की अपेक्षा संख्यात्में, असंख्यात्में या अनन्तमें भाग हैं। जिससे इपका पृथक् से निर्देश करना उपयोगी न होने से अब भागद्वार का विवेचन करते हैं।

### भागद्वार प्रस्तुता

सम्माइचउमु तिथ चउ उवसमगुवसंतयाण चउ पंच ।

चउ खीण अपुब्जाणं तिन्नि उ भावावसेसाणं ॥६४॥

<sup>१</sup> माधागत 'तिन्नि' पद से यही तीन मुण्डस्थानों के नाम प्रहृण किये हैं। किन्तु सर्वविरति में छठे और सातवें इन दोनों मुण्डस्थानों का समावेश होता है। अतः चारों का भी ग्रहण किया जा सकता है।

**शब्दार्थ**—सम्भाइ—अविरतसम्बन्धकल्प आदि, चक्रसु—चार गुणस्थानों में, तिय—तीन, चउ—चार, उचससम्बन्धस्थान—समशामक और उपशांतमोहु गुणस्थानों में, चउ—चार, पञ्च—धार्च, चतु—चार, क्षीण—क्षीणमोह, अपुष्टकाण—अपूर्वकरण गुणस्थान में, तिनि—तीन, उ—और, भावावसेसाण—भाव अवशेष गुणस्थानों में ।

**ग्राथार्थ**—अविरत सम्यग्हृष्ट आदि चार गुणस्थानों में तीन अथवा चार भाव होते हैं । उपशामक और उपशांतमोह में चार अथवा धार्च भाव, क्षीणमोह और अपूर्वकरण गुणस्थान में चार तथा क्षीण गुणस्थानों में तीन भाव होते हैं ।

**विशेषार्थ**—यहाँ औपशमिक आदि पारिणामिक पर्यन्त पांच भावों में से गुणस्थानों में उनकी प्राप्ति का निर्देश किया है कि प्रत्येक गुणस्थान में किसने भाव संभव है । जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

'सम्भाइ चक्रसु तिय चउ' अर्थात् अविरत सम्यग्हृष्ट से लेकर अप्रभत्तसंयत गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में तीन अथवा चार भाव होते हैं । योद तीन हों तो औदयिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये तीनों भाव होते हैं और चार भाव हों तो पूर्वोक्त तीन के साथ क्षायिक अथवा औपशमिक भाव को मिलाने पर चार भाव होते हैं ।

उनमें मनुष्यगति आदि गलि, वेद, कषाय, आहारकल्प, अविरतस्त्व, लेशया इत्यादि औदयिक भाव की अपेक्षा, भव्यत्व और जीवत्व पारिणामिक भाव की अपेक्षा, मतिज्ञानादि ज्ञान और चक्षुदर्शन आदि दर्शन, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और दानादि लिङ्घवचक आदि क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा, क्षायिक सम्यक्त्व क्षायिक भाव की अपेक्षा और औपशमिक सम्यक्त्व औपशमिक भाव की अपेक्षा होते हैं ।

यहाँ इतना विशेष समझना चाहिये कि जब तीन भावों की विवक्षा की जाये तब सम्यक्त्व क्षायोपशमिक लेना चाहिये और क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक सहित चार भावों की विवक्षा में सम्यक्त्व क्षायिक अथवा क्षायोपशमिक ग्रहण करना चाहिये ।

'उपसमग्रवसंतयाण चउ पञ्च' अर्थात् उपशमभेणिकर्त्ती अपूर्वकरण, आनिवृत्तिवादरसंपराय और सूक्ष्मसंपराय तथा उपशास्त्रमोह इन चार गुणस्थानों में चार या पाँच भाव होते हैं।

जब चार भाव होते हैं तब औदयिक, औपशमिक, पारिशमिक और क्षायोपशमिक ये चार भाव होते हैं। उनमें मनुष्यगति, वेद, कथाय, लेश्या आदि औदयिक भाव की अपेक्षा; जीवत्व, भव्यत्व पारिशमिक भाव की अपेक्षा; उपशम सम्यक्त्व उपशम भाव की अपेक्षा और ज्ञान, दर्शन और दानादि लक्ष्य आदि क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा से हैं।

किन्तु इतना विशेष जानना चाहिये कि दसवें सूक्ष्मसंपराय और ग्यारहवें उपशास्त्रमोह गुणस्थान में औदयिक भावगत वेद और कथायों को प्रहण नहीं करना चाहिये। क्योंकि नीचे गुणस्थान में उपशमित हो जाने से आगे के गुणस्थानों में उनका उदय नहीं होता है। क्षायोपशमिक भाव में वेदक सम्यक्त्व को नहीं लेना चाहिये। क्योंकि वह क्षीये से सालके गुणस्थान पर्यन्त ही होता है और उपशम भाव में उपशम चारित्र अधिक कहना चाहिये।<sup>१</sup> जब क्षायिक सम्यग्भृष्टि उपशम एवं पर आरूढ़ होता है तब क्षायिक भाव में क्षायिक सम्यक्त्व और

१ ग्यारहवें गुणस्थान में तो चारित्रमोहनीय की प्रत्येक प्रकृति का उपशम हो जाने से उपशम भाव का चारित्र होता है। परन्तु दसवें गुणस्थान में सूक्ष्म लोभ का उदय होने पर भी उपशम भाव का चारित्र नहीं होता है, क्षायोपशमिक भाव का होता है। यहीं जो उपशम भाव का लिया है, वह अपूर्ण को पूर्ण मानकर कहा है। क्योंकि चारित्रमोहनीय की चीस प्रकृतियाँ उपशास्त्र हो गई हैं और लोभ का भी अधिक भाव उपशमित हो गया है। भाव अल्प अंश ही शेष है। इसलिये उसको पूर्ण मान कर लिने में अनुचित जैसा कुछ नहीं है।

उपशम भाव में उपशम चारित्र होता है और शेष तीन भाव ऊपर कहे गये अनुसार होते हैं।

‘चतुर खीण अपूर्वकाण’ अर्थात् क्षपकश्चेणिकर्त्ति अपूर्वकरण, अनिवृत्तिवादरसंपराय, सूधमसंपराय और क्षीणभोह इन गुणस्थानों में चार भाव होते हैं। इसका कारण यह है कि क्षपकश्चेणि में औपशमिक भाव का अभाव है।

‘तिन उ भावावसेसाण’ अर्थात् पूर्वोक्त गुणस्थानों से शेष रहे मिथ्याहृष्टि, सासादन सम्यग्हृष्टि, सम्यग्मिथ्याहृष्टि ( मिथ्र ), सयोगिकेवली और अयोगिकेवली इन गुणस्थानों में तीन भाव होते हैं।

मिथ्याहृष्टि, सासादन और मिथ्रहृष्टि में इस प्रकार तीन भाव होते हैं—औदयिक, पारिणामिक और क्षायोपशमिक। उनमें गति, जाति, लेश्या, वेद, क्षयाय आदि औदयिक भाव की अपेक्षा और भव्य जीव की हृष्टि से जीवत्व और भव्यत्व पारिणामिक भावापेक्षा और अभव्य मिथ्याहृष्टि जीवों के जीवत्व और अभव्यत्व पारिणामिक भाव की अपेक्षा तथा मति-अज्ञान आदि तीन अज्ञान, चक्षुदर्शन आदि तीन दर्शन और दानादि पांच लब्धि क्षायोपशमिक भाव की अपेक्षा हैं।

सयोगिकेवली और अयोगिकेवली गुणस्थानों में तीन भाव इस प्रकार होते हैं—औदयिक, पारिणामिक और क्षायिक। मनुष्यगति आदि औदयिक भाव की अपेक्षा, भव्यत्व, जीवत्व पारिणामिक भाव की अपेक्षा, केवलज्ञान, केवलदर्शन, क्षायिक सम्यकत्व, चारित्र, पूर्ण दानादि पांच लब्धि, ये सब क्षायिक भाव की अपेक्षा होती हैं।

सिद्ध भगवान के क्षायिक और पारिणामिक ये जीव के स्वरूप रूप दो ही भाव होते हैं। उनमें से केवलज्ञानादि क्षायिक भाव की अपेक्षा और जीवत्व पारिणामिक भावापेक्षा होता है।

### जीवस्थानों में भाव

इस प्रकार से गुणस्थानों में किये गये भावों के विचार के अनुसार जीवस्थानों में भी स्वयमेव विचार कर लेना चाहिये। फिर भी यहाँ कुछ

सकेत करते हैं कि आदि के बारह जीवस्थानों में औद्यिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक ये तीन सभव होते हैं। क्योंकि ये सभी जीवस्थान पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में ही होते हैं। मात्र करण-अपर्याप्त वादर एकेन्द्रिय, द्विन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरन्द्रिय और असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय में से किन्हीं के सासादन गुणस्थान भी होता है। इसलिये पूर्व में जैसे पहले और दूसरे गुणस्थान में भावों को बतलाया है उसी प्रकार से इनमें भी भावों का विवान समझ लेना चाहिये ।

लघिध-अपर्याप्त संज्ञी में भी पूर्वोक्त सीन भाव समझना चाहिये । क्योंकि करण-अपर्याप्त संज्ञी में जीवा गुणस्थान भी सभव होने से जिन्हींने दर्शनसप्तक का क्षय किया हो, उनके क्षायिक सम्यक्त्व और औ उपशमश्रेणि में कालहारण को प्राप्त कर अनुसार विभान में भग्न हुए हो, उन देवों के उपशम सम्यक्त्व भी हो सकता है। इसलिये औद्यिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक अथवा औपशमिक, औद्यायक, क्षायोपशमिक और पारिणामिक इस प्रकार चार-चार भाव भी होते हैं। उपर्युक्त दो सम्यक्त्व में से कोई भी सम्यक्त्व व हो तो पूर्वोक्त तीन भाव होते हैं। मात्र सम्यक्त्व क्षायोपशमिक होता है ।

पथपिता संज्ञी जीवों में तो चौदह गुणस्थान सभव होने से गुणस्थान क्रम से जिस प्रकार भावों का निर्देश किया है, तदनुसूप सभी भाव समझ लेना चाहिये ।

इस प्रकार से भावद्वार की प्रस्तुत्या जानना चाहिये । अब अल्प-बहुत्व का विचार प्रारम्भ करते हैं ।

### अल्पबहुत्व प्रस्तुत्या

योद्धा गदभयमण्या तत्तो इत्थीओ तिघणगुणियाओ ।

ब्रायरतेउवकाया तासिमसंखेज्ज पञ्जजता ॥६५॥

**शब्दार्थ**—योद्धा—स्तोक, अहम्, अवश्य—गर्भज, असूक्ष्म—गम्भुष्म, तत्तो—उनके, द्वाषीओ—स्त्रिया, तिघणगुणियाओ—ग्रिघनगुणी (तीव्र का

जितना धन होता है, उतनी गुणी) शायर—बादर, तेजस्काय—तेजस्काय, कालिमसंखेष्ठ—उनसे भी असंख्यत गुण, पश्चास्त—पर्याप्त ।

**गाथार्थ**—गर्भज मनुष्य स्तोक—अल्प है, उनसे स्त्रियां तीन का जितना धन होता है, उतनी गुणों हैं और उनसे बादर पर्याप्त तेजस्काय जीव असंख्यात गुण हैं ।

**विशेषार्थ**—कठिप्रय प्रकार के सांसारिक जीवों की यथाक्रम से अल्पाधिकता बतलाते हुए कहा है—

'थोड़ा भव्य मण्डा' अर्थात् गर्भज मनुष्य अल्प है क्योंकि उनकी संख्या मात्र संख्यात कोड़ाकोड़ी है । इसका आशय यह जानना चाहिए कि आगे स्त्रियों के सम्बन्ध में पृथक् से निर्देश किया है अतः पुरुष रूप गर्भज मनुष्य अल्प हैं । पुरुष रूप गर्भज मनुष्यों से उनकी स्त्रियां तीन का जितना धन होता है, उतनी गुणी हैं, यानि सत्ताईस गुणी हैं और साथ में सत्ताईस अधिक है<sup>१</sup> तथा मनुष्य रूप स्त्रियों से पर्याप्त बादर तेजस्काय के जीव असंख्यात गुण हैं । क्योंकि वे कुछ वर्ग न्यून आवलिका के धन के जितने समय होते हैं, उतने हैं । इसका स्फटी-करण पहले द्वयप्रमाण प्रस्तुपण में किया जा चुका है ।

अब देव और नारकों के अल्पबहुत्व का प्रमाण बतलाते हैं—

तत्तोणुत्तरदेवा तत्तो संखेज्ज जाणओ कप्पो ।

तत्तो असंखगुणिया सत्तम छट्टी सहस्रारो ॥६६॥

सुक्कमि पंचमाए लंतय चौर्थीए बंभ तच्चाए ।

माहिदसणकुमारे दोच्चाए मुच्छिमा मण्डा ॥६७॥

१ तिगुणा तिरुभहिता सिरियाण इस्तिया भुणेयव्वा ।

सत्तावीसगुणा दुष मण्डाण तद्विता चेव ॥

**शास्त्रार्थ—**तस्मोऽनुसारदेव—उनसे अनुत्तर देवा, तसी—उनसे, संखेन्द्र—  
असंख्यातगुणे, ज्ञानम्—आनत तक के, कल्पी—कल्प, तत्त्वे—उनसे, असंख्य-  
मुण्डित—असंख्यातगुणे, तत्त्वम् छट्ठी—सातवी और छठी पृथ्वी के नारक,  
सहस्रसाती—सहस्रार स्वर्ण के देव ।

**सुक्षेपमि—**शुक्र में, वर्षभाए—पांचवी पृथ्वी में, लंबव्य—लंबतक में,  
बीतर्थीए—बीथी पृथ्वी में, अंभ—बहु देवलोक, तत्त्वाए—तीसरी पृथ्वी में,  
बीतिवस्त्रम् कुमारै—माहेश्वर और सनस्तकुमार देवलोक में, बीत्त्वाए—दूसरी पृथ्वी  
में, मुण्डितमा—संमूच्चिद्धम, भृत्य—मनुष्य ।

**शास्त्रार्थ—**उनसे अनुत्तर देव असंख्यात गुण हैं, उनमें आनत  
कल्प तक के देव अनुक्रम से संख्यात गुण हैं, उनसे अनुक्रम:  
सातवी और छठी पृथ्वी के नारक तथा सहस्रार देव असंख्यात  
गुण हैं ।

**शुक्र, कल्प और पांचवी नरक पृथ्वी में, लंबतक में, बीथी नरक-  
पृथ्वी में, बहु देवलोक में, तीसरी नरकपृथ्वी में, माहेश्वर कल्प  
में, सनस्तकुमार देवलोक में और दूसरी नरकपृथ्वी में उत्तरोत्तर  
अनुक्रम से असंख्यातगुण असंख्यातगुणे जीव हैं । उनसे संमूच्चिद्धम  
मनुष्य असंख्यातगुण हैं ।**

**विशेषार्थ—**बादर पर्योप्त तिजस्काय जीवों से अनुत्तर विमानवासी  
देव असंख्यातगुण हैं । क्योंकि वे क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवे भाग में  
रहे हुए आकाशप्रदेश प्रभाण हैं । उन अनुत्तर देवों से आनत कल्प  
तक के देव अनुक्रम से संख्यातगुण हैं । वे इस प्रकार जानना चाहिए ।

**अनुत्तर विमानवासी देवों से उपरितन ग्रैवेयक के प्रत्यर के देव  
संख्यातगुण हैं ।** क्योंकि वे क्षेत्र पल्योपम के बड़े असंख्यातवे भाग में  
रहे हुए आकाशप्रदेश प्रभाण हैं और इसका कारण यह है कि अनुत्तर  
विमानों की अपेक्षा ग्रैवेयक विमान अधिक है । वे इस प्रकार जानना  
चाहिए कि अनुत्तर देवों के सो पांच ही विशेष हैं और ग्रैवेयक के

ऊपर के प्रस्तार—प्रतर में सौ विमान हैं और प्रत्येक विमान में असंख्यात देव रहते हैं।

जैसेजैसे नीचे-नीचे के विमानवासी देवों का विचार किया जाये वैसे-वैसे उनके अन्दर अधिक-अधिक देव निवास करने वाले होते हैं। अतएव यह अर्थ निकला कि अनुस्तार विमानवासी देवों की अपेक्षा क्षेत्र पत्योपम के बड़े असंख्यातवे भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण ग्रैवेयक के ऊपर के प्रतर के देव हैं। ग्रैवेयक के ऊपर के प्रतर के देवों से ग्रैवेयक के मध्यम प्रतर के देव संख्यातगुण हैं, उनसे ग्रैवेयक के नीचे के प्रतर के देव संख्यातगुण हैं।

ग्रैवेयक के नीचे के प्रतर के देवों से अच्युतकल्प के देव संख्यातगुण हैं। यद्यपि आरण और अच्युत कल्प समश्वेणी में हैं और सभान विमान संख्या वाले हैं तथापि अच्युत देवों से आरणकल्प के देव संख्यातगुण हैं। क्योंकि आरणकल्प दक्षिण दिशा में है और अच्युत-कल्प उत्तर दिशा में है। दक्षिण दिशा में तथास्वभाव से कृष्णपाक्षिक जीव अधिक उत्पन्न होते हैं। कृष्णपाक्षिक जीव अधिक हैं और शुक्ल-पाक्षिक अल्प होते हैं। इस कारण अच्युतकल्प की अपेक्षा आरणकल्प में देवों का संख्यातगुणात्मक संभव है।

इसी प्रकार आनत और प्राणत कल्प के लिए भी जान लेना चाहिये। आरणकल्पवासी देवों से प्राणतकल्प के देव संख्यातगुण हैं। उनसे आनतकल्प के देव संख्यातगुण हैं। क्योंकि आनतकल्प दक्षिण दिशा में और प्राणतकल्प उत्तर दिशा में है।

अनुस्तार विमानवासी देवों से लेकर आनतकल्पवासी देवों पर्यन्त सभी देव प्रत्येक क्षेत्र पत्योपम के असंख्यातवे भाग में विद्यमान आकाशप्रदेश राशि प्रमाण हैं और अनुक्रम से क्षेत्र पत्योपम का असंख्यातवे भाग अधिक अधिक संख्या वाला लेना चाहिये।

आनतकल्पवासी देवों से सातवीं नरकपृथ्वी के नारक असंख्यातगुण हैं। क्योंकि वे धनीकृत लोक की एक प्रादेशिकी सूचिश्वेणी के

असंख्यातवे भाग में विद्यमान आकाशप्रदेश प्रमाण है। उनसे छठी नरकपृथ्वी तमप्रभा के नारक असंख्यातगुण हैं।

इन छठी पृथ्वी के नारकों से भी सहस्रार कल्पवासी देव असंख्यात-गुण हैं। छठी नरकपृथ्वी के नारकों के प्रमाण में हेतुभूत जो श्रेणि का असंख्यातवे भाग इह है, उसकी लक्षण सहस्रार कल्पवासी देवों के प्रमाण में हेतुभूत श्रेणि का असंख्यातवे भाग असंख्यात गुणा बड़ा होने से सहस्रार कल्पवासी देव असंख्यातगुण हैं।

इन सहस्रारकल्प के देवों में महाशुक्रकल्प के देव असंख्यातगुण हैं। क्योंकि सहस्रार देवलोक में सिफे छह हजार और महाशुक्रकल्प में चालीस हजार विमान हैं तथा नीचे-नीचे के विमानवासी देव अधिक-अधिक तथा ऊपर-ऊपर के विमानवासी देव अल्प संख्या में होते हैं।

**प्रश्न**—ऊपर-ऊपर के देवों के अल्प मानने का कारण क्या है?

**उत्तर**—ऊपर-ऊपर के कल्पों की सम्पत्ति उत्तरोत्तर युणप्रकर्ष के योग से अधिक-अधिक पुण्यशाली जीव प्राप्त कर सकते हैं और नीचे-नीचे के विमानों की सम्पत्ति अनुक्रम से हीन-हीन गुण के योग से अल्प-अल्प पुण्य वाले जीव प्राप्त करते हैं। उत्तरोत्तर अधिक-अधिक पुण्यप्रकर्ष वाले पुण्यशाली जीव स्वभाव से ही अल्प-अल्प और हीन-हीन गुणद्रुत अल्प पुण्यवान जीव अधिक होते हैं, जिससे ऊपर-ऊपर के विमानों में देवों को संख्या अल्प-अल्प और नीचे-नीचे के विमानों में अधिक-अधिक होती है। इसी कारण सहस्रारकल्प के देवों से महाशुक्रकल्प के देव असंख्यातगुण बतलाये हैं।

महाशुक्रकल्प के देवों से पांचवीं नरकपृथ्वी के नारक असंख्यात-गुण हैं। क्योंकि वे श्रेणि के बड़े असंख्यातवे भाग में वर्तमान आकाशप्रदेश राशिप्रमाण हैं।

पांचवीं नरकपृथ्वी के नारकों से भी लातककल्प के देव असंख्यात-गुण हैं। क्योंकि वे श्रेणि के बहुसार असंख्यातवे भाग में विद्यमान आकाशप्रदेश राशिप्रमाण हैं।

लांतककल्प के देवों से भी पंकप्रभा नामक चौथी नरकपृथ्वी के नारक असंख्यातगुण हैं। लांतक देवों के प्रमाण में हेतुभूत श्रेणि के असंख्यातवं भाग की अपेक्षा चौथी नरकपृथ्वी के नारकों के प्रमाण में हेतुभूत श्रेणि का असंख्यातवं भाग असंख्यातगुण बढ़ा है।

चौथी नरकपृथ्वी के नारकों की अपेक्षा बहु देवलोक के देव असंख्यातगुण हैं। इनके असंख्यातगुण होने का विचार महाशुक्र देवों की संख्या को बताने के प्रसंग में जैसा किया गया है, तदनुसार यहाँ भी समझ लेना चाहिये।

बहु देवलोक के देवों से तीसरी नरकपृथ्वी के नारक असंख्यातगुण हैं। उनसे भी माहेन्द्रकल्प के देव असंख्यातगुण हैं। उनसे भी सनत्कुमारकल्प के देव असंख्यातगुण हैं। क्योंकि सनत्कुमारकल्प में बारह लाख और माहेन्द्रकल्प में आठ लाख विमान हैं तथा सनत्कुमारकल्प दक्षिण दिशा में है और माहेन्द्रकल्प उत्तर दिशा में एवं तथास्वभाव से कृष्णपाक्षिक जीव दक्षिण दिशा में और शुक्लपाक्षिक जीव उत्तर दिशा में अधिक उत्पन्न होते हैं। स्वभाव से कृष्णपाक्षिक जीव अधिक और शुक्लपाक्षिक जीव अल्प होते हैं। इसलिए माहेन्द्रकल्प के देवों की अपेक्षा सनत्कुमारकल्प के देव असंख्यातगुण घटित होते हैं।

इन सनत्कुमारकल्प के देवों से भी दूसरी नरकपृथ्वी के नारक अत्यधिक बड़े श्रेणि के असंख्यातवं भाग प्रमाण होने से असंख्यातगुण हैं।

सातवीं नरकपृथ्वी से लेकर दूसरी नरकपृथ्वी पर्यंत प्रत्येक पृथ्वी के नारकों की स्वस्थान में संख्या सूचिश्रेणि के असंख्यातवं भाग में विद्यमान आकाशप्रदेश राशिप्रमाण है। मात्र पूर्व-पूर्व सूचिश्रेणि के असंख्यातवं भाग की अपेक्षा उत्तरोत्तर सूचिश्रेणि का असंख्यातवं भाग अधिक-अधिक बड़ा लेना चाहिये। जिससे उपर्युक्त अल्पबहुत्व घटित हो सकता है।

दूसरी नरकपृथ्वी के नारकों की संख्या की अपेक्षा संमूच्छम भनुष्य असंख्यातगुण हैं। इसका कारण यह है कि वे अंगुलमात्र की त्रि-

में रहे हुए आकाशप्रदेश के तीसरे मूल के साथ पहले मूल का गुणाकार करने पर जितनी प्रदेशराशि आती है, उतने-उतने प्रभाण वाली एक प्रादेशिकी एक सूचिश्रेणि में जितने खंड होते हैं उसमें से कतिपय करोड़ प्रभाण गर्भज मनुष्यों को कम करने पर जो प्रभाण होता है, उतने हैं। जिससे वे असंख्यातगुणे कहे गये हैं।

इस प्रकार अनुत्तर देवों से लेकर सनत्कुमारकल्प के देवों तक का अल्प-बहुत्व बतलाने के बाद अब सीधर्म, ईशान के देवों, देवियों और भवनवासी देवों का अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

इसाणे सब्बत्थवि बत्तीसगुणाओ होंति देवीओ ।

सोहम्मे तओ असंखा भवणवासी ॥६८॥

**शब्दार्थ**—ईशान—ईशान देवलोक के, सब्बत्थवि—सर्वत्र भी, वत्तीसगुणाओ—वत्तीसगुणी, होंति—होती है, देवीओ—देवियाँ, संखेभासी—मनुष्यातगुणे, सोहम्मे—सीधर्म देवलोक के, तओ—उनसे, असंखा—असंख्यातगुणे, भवणवासी—भवनवासी देव ।

**गाथार्थ**—उनसे ईशान देवलोक के देव असंख्यातगुणे हैं।

देवियाँ सर्वत्र वत्तीसगुणी हैं। सीधर्म देवलोक के देव संख्यातगुणे और भवनवासी असंख्यातगुणे हैं ।

**विशेषार्थ**—समूच्छम मनुष्यों से ईशान देवलोक के देव असंख्यातगुण हैं। इसका कारण यह है कि एक अंगुलप्रभाण धन्त्र में बर्तमान आकाशप्रदेश राशि के द्वासरे वर्गमूल को तीसरे वर्गमूल से गुणा करने पर जो संख्या आती है, उतनी धनीकृत लोक की एक प्रादेशिकी सूचिश्रेणि में जितने आकाशप्रदेश होते हैं, उतने ईशानकल्प में देव-देवियों का समूह है। समस्त देव-देवियों की संख्या को बत्तीस में भाग देने पर प्राप्तसंख्या में से एकरूप कम करने पर जो आये, उतने ईशानकल्प के देव हैं। इसलिये समूच्छम मनुष्यों से ईशानकल्प के देव असंख्यातगुणे बताये हैं ।

ईशानकल्प के देवों से उसकी देवियाँ संख्यातमुणी हैं। क्योंकि वे बत्ती संयुणी और बसीस अधिक होती हैं।

सौधर्मकल्प और ज्योतिष्क आदि देवों के प्रत्येक भेद में देवों से देवियाँ बत्तीसंयुणी तथा बसीस अधिक हैं। स्त्रियों की संख्या का प्रमाण बतलाने वाला जीवाभियमसूत्र का पाठ इस प्रकार है—

‘तिरिक्षिष्टोणियपुरिसेहितो तिरिक्षिष्टोणियइत्थीओ तिगुणाओ तिरुवा-  
हियाओ मणुरुक्षापुरिसेहितो मणुस्सीओ सत्ताक्षीसंयुणाओ सत्ताक्षीसंख्याहियाओ  
(८) रेवदुरिसेहितो दिवीओ वन्तीसंयुणाओ बसीसंख्यरक्षो य इति ।’

अथवा तिर्यक पुरुषों से तिर्यक स्त्रियाँ तिगुनी और तीन अधिक, मनुष्य पुरुषों से मनुष्य स्त्रियाँ सत्ताइसंयुणी और सत्ताइस अधिक और देवपुरुषों से देव स्त्रियाँ बत्तीसंयुणी और बसीस अधिक हैं।

ईशानकल्प की देवियों से सौधर्मकल्प के देव, विमान अधिक होने से संख्यातमुणे हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिए—

ईशान देवलोक में अट्ठाईस लाख और सौधर्म देवलोक में बसीस लाख विमान हैं तथा सौधर्मकल्प दक्षिण दिशा में और ईशानकल्प उत्तर दिशा में हैं। दक्षिण दिशा में कृष्णपालिक जीवों के अधिक उत्पन्न होने के कारण और जीवस्वभाव से कृष्णपालिक जीवों की संख्या अधिक होने से ईशानकल्प की देवियों से सौधर्मकल्प के देव संख्यातमुणे हैं।

**प्रश्न**—सौधर्मकल्प के देवों के संख्यातमुणे होने में जो युक्ति थी है, उसी युक्ति के अनुसार माहेन्द्र देवलोक की अपेक्षा सनत्कुमारकल्प के देवों को भी संख्यातमुणा कहना चाहिए था। क्योंकि दोनों स्थान पर युक्ति समान है तो फिर माहेन्द्रकल्प के देवों से सनत्कुमारकल्प के देवों को असंख्यातमुणे और सौधर्मकल्प के संख्यातमुणे बताने का क्या कारण है ?

**उत्तर**—प्रश्नापनासूत्र के महादंडक के अनुसार यहीं अत्यबहुत्व

का निर्देश किया है।<sup>१</sup> अतएव इसमें किसी प्रकार की आशंका नहीं करनी चाहिए।

सौष्ठुर्मंकल्प के देवों से उसकी देवियाँ बत्तीसगुणी और बत्तीस अधिक हैं।

सौष्ठुर्मंकल्प की देवियों से भवनवासी देव असंख्यातगुणे हैं। वह इस प्रकार जानना चाहिए कि अंगुलप्रमाण क्षेत्र में वर्तमान आकाश-प्रदेश के पहले वर्गमूल को दूसरे वर्गमूल के साथ गुणा करने पर आकाशप्रदेशों की जो संख्या हो उतनी धनीकृत लोक की एक प्रादेशिकी सूचिधेणि में जितने आकाशप्रदेश होते हैं उतने भवनपति देव-देवियों की संख्या है और उसके बत्तीसवें भाग में से एक न्यून भवनपति देव हैं। इस कारण सौष्ठुर्मंकल्प की देवियों से भवनवासी देव असंख्यातगुणे हैं। भवनवासी देवों से उनकी देवियाँ बत्तीसगुणी और बत्तीस अधिक हैं।

इस प्रकार वैमानिक और भवनवासी देव-देवियों का अल्पबहुत्व जानना चाहिए। अब पूर्व में नहीं कहा गया रत्नप्रभा के नारकों, क्षेत्र पंचेन्द्रिय पुरुषों आदि का अल्पबहुत्व बताते हैं—

**रथणप्पभिया खहयरपणिदि संखेज्ज तत्तिरिक्षीओ ।**

**सब्बत्थ तओ थलयर जलयर वण जोइसा चेवं ॥६३॥**

**शब्दार्थ—**रथणप्पभिया—रत्नप्रभा के नारक, खहयरपणिदि—क्षेत्र पंचेन्द्रिय, संखेज्ज—संख्यातगुण, तत्तिरिक्षीओ—उनकी लिये चमी (स्त्रिया), सब्बत्थ—सर्वेष, तओ—उनसे, थलयर—थलचर, जलयर—जलचर, वण—व्यंतर, जोइसा—ज्योतिष्क, चेवं—और इसी प्रकार।

**गाथार्थ—**उनसे रत्नप्रभा के नारक और क्षेत्र पंचेन्द्रिय पुरुष उत्तरोत्तर असंख्यातगुणे हैं, उनकी स्त्रियाँ संख्यातगुणी हैं,

<sup>१</sup> प्रज्ञापनासूत्रगत महादर्शक को परिक्षिणि में देखिए।

उनसे थलचर, जलचर, व्यंतर और ज्योतिष्क देव इसी प्रकार उत्तरोत्तर संख्यातगुणे हैं।

**विशेषार्थ**—पूर्व में बताई गई भवनवासी देवियों की संख्या से रत्नप्रभापृथ्वी के नारक असंख्यातगुणे हैं। इसका कारण यह है कि अंगुल प्रमाण क्षेत्र की प्रदेशराशि के साथ उसके पहले वर्गमूल का गुणा करने पर जो प्रदेशसंख्या प्राप्त होती है, उतनी सूचिश्चेणि के आकाशप्रदेश प्रमाण वे हैं।

रत्नप्रभापृथ्वी के नारकों से भी खेचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यच पुरुष असंख्यातगुणे हैं। क्योंकि वे सूचिश्चेणि के आकाशप्रदेश प्रमाण हैं प्रथम नारकपृथ्वी के नारकों के प्रमाण में हेतुभूत सूचिश्चेणि से खेचर पञ्चेन्द्रिय पुरुषों की प्रमाणभूत सूचिश्चेणि असंख्यातगुणी होने से वे असंख्यातगुणे हैं।

खेचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यच पुरुषों से उनकी स्त्रियां संख्यातगुणी हैं। क्योंकि वे तिगुनी और तीन अधिक होती हैं। इसी प्रकार तिर्यचों में सर्वत्र अपनी-अपनी जाति में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियां संख्यातगुणी अथवा तिगुनी और तीन अधिक जानना चाहिए।

खेचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यच स्त्रियों से थलचर पुरुष संख्यातगुणे हैं। क्योंकि प्रतर के बड़े असंख्यातवें भाग में वर्तमान असंख्यात सूचिश्चेणि की प्रदेशराशि प्रमाण है। उनसे भी उनकी स्त्रियां तिगुनी और तीन अधिक हैं।

थलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यच स्त्रियों से भी मत्स्य, मगर आदि जलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यच पुरुष संख्यातगुणे हैं। क्योंकि प्रतर के बहुत बड़े असंख्यातवें भाग में विचमान असंख्यात सूचिश्चेणि के आकाशप्रदेश प्रमाण हैं। उनसे उनकी स्त्रियां तिगुनी और तीन अधिक हैं।

उन जलचर पञ्चेन्द्रिय तिर्यच स्त्रियों से व्यंतर पुरुष संख्यातगुणे हैं। क्योंकि वे संख्यात कोडाकोडी योजन प्रमाण सूचिश्चेणि सरीखे एक प्रतर के जितने खंड होते हैं, सामान्यतः पुरुष और स्त्री दोनों मिलकर

व्यंतर हैं। यहाँ केवल पुरुष की विवक्षा होने से वे सम्पूर्ण समूह की अपेक्षा बत्तीसवें भाग से एकरूप हीन हैं। जिससे जलचर स्थियों से व्यंतर पुरुष संख्यातमुणे घटित होते हैं। उनसे भी व्यंतर देवियां बत्तीसमुणी और बत्तीस अधिक हैं।

व्यंतर देवियों से भी ज्योतिष्क पुरुषदेव संख्यातमुणे हैं। सामान्यतः ज्योतिष्क देव दोसो छप्पन अमूल प्रमाण सूचिश्चणि सरीखे एक प्रतर के जितने खण्ड होते हैं, उनमें हैं।

मात्र यहाँ पुरुषदेव की विवक्षा होने से वे अपने सम्पूर्ण समूह की संख्या की अपेक्षा बत्तीसवें भाग से एकरूप न्यून हैं। जिससे व्यंतर देवियों से ज्योतिष्क पुरुषदेव संख्यातमुणे घटित होते हैं। ज्योतिष्क पुरुषदेवों से उनकी देवियां बत्तीसमुणी और बत्तीस अधिक हैं। कथोंकि पूर्व में कहा जा चक्रा है कि देवों में सर्वत्र बत्तीसमुणी और बत्तीस अधिक देवियां होती हैं। इसी वियम के अनुसार ज्योतिष्क देवियों की ज्योतिष्क देवपुरुषों से बत्तीसमुणी और बत्तीस अधिक जानना चाहिये।

अब नपुंसक सेचर आदि के अल्पबहुत्व का प्रमाण बतलाते हैं—

तत्तो नपुंसखहयरः संखेज्ञा थलयरजलयर नपुंसा ।

चउरिदि तओ पण्डितिइदियपञ्जत किञ्चि (च)हिया ॥७०॥

शब्दार्थ—तत्तो—उनसे, नपुंस—नपुंसक, खहयर—खेचर, संखेज्ञा—संख्यातमुणे, थलयर—थलचर, जलयर—जलचर, नपुंसा—नपुंसक, चउरिदि—चतुरिन्द्रिय, तओ—उनसे, पण्डितिइदिय—पण्डितिय, दीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, पञ्जत—पञ्जति, किञ्चिहिया—विशेषाविक।

गाथार्थ—उनसे नपुंसक सेचर संख्यातमुणे हैं, उनसे नपुंसक थलचर और जलचर उत्तरोत्तर संख्यातमुणे हैं, उनसे चतुर-

<sup>१</sup> भूल टीका में 'तत्तो थसंख खहयर' ऐसा पाठ है।

रिन्द्रिय संख्यातगुण हैं उनसे पर्याप्त पंचेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय और श्रीन्द्रिय विशेषाधिक हैं।

**विशेषाधिक**— पूर्वोक्त ज्योतिष्क देवियों से लेखर पंचेन्द्रिय तिर्यंच नषुसक संख्यातगुण हैं।<sup>१</sup> उनके संख्यातगुण होने का कारण यह है कि दो सौ छण्णन अंगूलप्रमाण सूचिश्चणीयि सरीखे एक प्रतर के जितने खंड होते हैं, उतने ज्योतिष्क देव हैं। इसकी पूर्व में द्रव्यप्रमाण प्रलृपण में बताया है<sup>२</sup> कि दो सौ छण्णन अंगूलप्रमाण सूचिश्चणीयि के प्रदेश द्वारा अधित प्रतर ज्योतिष्क देवों द्वारा अपहृत किया जाता है तथा अंगूल के संख्यातवे भाग सूचिश्चणीयि सरीखे एक प्रतर के जितने खंड होते हैं, उतने पर्याप्त चतुरिन्द्रिय हैं। पहले द्रव्यप्रमाण अधिकार<sup>३</sup> में कहा है कि पर्याप्त और अपर्याप्त द्वीन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव अनुक्रम से अंगुल के संख्यातवे भाग में वर्तमान आकाशप्रदेश द्वारा अधित प्रतर का अपहृत करते हैं और यहाँ अंगुल के संख्यातवे भाग की अपेक्षा दो सौ छण्णन अंगूल संख्यातगुण ही होते हैं। इस प्रकार विचार करने पर ज्योतिष्क देवों की अपेक्षा जब पर्याप्त चतुरिन्द्रिय संख्यातगुण घटित होते हैं तो फिर पर्याप्त चतुरिन्द्रिय की अपेक्षा संख्यातवे भाग प्रमाण लेखर पंचेन्द्रिय नषुसकों के लिये तो कहना हो बधा ? अर्थात् वे भी संख्यातगुण ही होते हैं, असंख्यातगुण नहीं।

कदाचित् यह कहा जाये कि देव-देवियों की विवक्षा किये बिना सामान्य ज्योतिष्क की अपेक्षा विचार किया जाये तो लेखर पंचेन्द्रिय

१ 'तत्त्वी अस्ति' इस पाठ को लेकर पवि ज्योतिष्क देवियों से लेखर नषुसकों को असंख्यातगुणो बतलाते हैं तो उसका कारण बहुश्रुत गम्य है : क्योंकि इसके बाद पर्याप्त चतुरिन्द्रिय सम्बन्धी जो कहा जायेगा, वह भी ज्योतिष्क देवों की अपेक्षा संख्यातगुणा घटित होता है।

२ इसी अधिकार की वाधा १५ के विवेचन में।

३ वाधा १२ में।

नपुंसक संख्यातगुणे घटित होते हैं, परन्तु ज्योतिष्क देवियों की अपेक्षा असंख्यातगुणे भी होते हैं। लोकेन्द्रिय कठुल्हा नहीं है। क्योंकि यदि देवपुरुषों की अपेक्षा देवियां असंख्यातगुणी हों तो कुल देवों की संख्या में से देवपुरुषों की संख्या कम करने पर केवल देवियों की अपेक्षा खेचर पंचेन्द्रिय नपुंसक असंख्यातगुणे घट सकते हैं, परन्तु वैसा ही नहीं। इसका कारण पूर्व में बताया जा चुका है कि देवियों की अपेक्षा देव बस्तीसबंध भाग ही है। इसलिये देवों की कुल संख्या में से देवपुरुषों की संख्या कम करने पर भी ज्योतिष्क देवियों से खेचर नपुंसक संख्यातगुणे ही होते हैं, असंख्यातगुणे नहीं।

खेचर पंचेन्द्रिय नपुंसकों से यलचर पंचेन्द्रिय नपुंसक संख्यातगुणे हैं। उनमें जलचर पंचेन्द्रिय नपुंसक संख्यातगुणे हैं। उनमें पर्याप्त चतुरिन्द्रिय संख्यातगुणे हैं। उनमें पर्याप्त संज्ञी असंज्ञी रूप दोनों भेद वाले पंचेन्द्रिय विशेषाधिक हैं। उनमें पर्याप्त द्वीन्द्रिय विशेषाधिक हैं। उनमें पर्याप्त श्रीन्द्रिय विशेषाधिक हैं।

यद्यपि पर्याप्त चतुरिन्द्रिय से लेकर पर्याप्त द्वीन्द्रिय तक के प्रत्येक भेद अंगूल के संख्यातवं भागप्रमाण सूचिश्चिणि सरीखे एक प्रतर के जितने खंड होते हैं, उतने साधान्य से कहे हैं, तथापि अंगूल का संख्यातवं भाग संख्यात भेदवाला होने से और अनुक्रम से बड़ा-बड़ा ग्रहण किये जाने से ऊपर जो अत्यबहुत्व कहा है, वह विस्तृद्ध नहीं है।

अब अपर्याप्त पंचेन्द्रियादि विधयक अत्यबहुत्व का निर्देश करते हैं—  
असंख्या पण किचि(च)हिय सेस कमसो अपञ्ज उभयओ ।  
पंचेन्द्रिय विसेसहिया चउतिबेइंदिया तसो ॥७१॥

शब्दार्थ—असंख्या—असंख्यातगुणे, पण—पंचेन्द्रिय, किचि(च)हिय—कुछ अधिक, विशेषाधिक, सेस—शेष, कमसो—अनुक्रम से, अपञ्ज—अपर्याप्त, उभयओ—उपर (पर्याप्त-अपर्याप्त), पंचेन्द्रिय—पंचेन्द्रिय, विसेसहिया—विशेषाधिक, चउतिबेइंदिया—चतुरिन्द्रिय, श्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय, तसो—उपर से ।

**गायार्थ**—उनसे अपर्याप्त पंचेन्द्रिय असंख्यातमुणे हैं। तत्पश्चात् अनुक्रम से अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय आदि विशेषाधिक, विशेषाधिक हैं। उनसे पर्याप्त अपर्याप्त पंचेन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, श्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय उल्लऽरोत्तर विशेषाधिक हैं।

**विशेषार्थ**—पर्याप्त श्रीन्द्रिय से अपर्याप्त पंचेन्द्रिय असंख्यातमुणे हैं। उनसे अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय विशेषाधिक हैं, उनसे अपर्याप्त श्रीन्द्रिय विशेषाधिक हैं, उनसे अपर्याप्त द्वीन्द्रिय विशेषाधिक हैं। यद्यपि अपर्याप्त पंचेन्द्रिय से लेकर अपर्याप्त द्वीन्द्रिय पर्यन्त के प्रत्येक ऐद अंगुल के असंख्यातमे भाग प्रभाण सूचिश्चेणि सरीखे एक प्रतर के जिसने खंड होते हैं, सामान्य से उतने कहे हैं, तथापि अंगुल का असंख्यातमां भाग छोटान्बड़ा लिया जाने से किसी प्रकार से विरोध नहीं है।

अपर्याप्त द्वीन्द्रिय से पर्याप्त-अपर्याप्त रूप पंचेन्द्रिय विशेषाधिक हैं। उनसे पर्याप्त-अपर्याप्त चतुरिन्द्रिय विशेषाधिक हैं। उनसे पर्याप्त-अपर्याप्त श्रीन्द्रिय विशेषाधिक हैं। उनसे भी पर्याप्त-अपर्याप्त द्वीन्द्रिय विशेषाधिक हैं। अर्थात् पर्याप्त-अपर्याप्त पंचेन्द्रियादि के अल्पबहुत्व के प्रसंग में यह जानना चाहिये कि पंचेन्द्रिय अल्प हैं और विपरीतपने से चतुरिन्द्रिय से द्वीन्द्रिय पर्यन्त विकलेन्द्रिय विशेषाधिक हैं।

अब पर्याप्त बादर वनस्पतिकायादि सम्बन्धी अल्पबहुत्व बताते हैं—

पञ्जत्तबायरपत्तेयतरु, असंख्येज्ज इति निगोयाओ।

पुढ़वी आऊ बाऊ बायरअपञ्जत्ततेऊ तओ ॥७२॥

**शब्दार्थ**—पञ्जत्त—पर्याप्त, बायर—बादर, पत्तेय—प्रत्येक, तरु—वनस्पति, असंख्येज्ज इति—असंख्यातमुणे हैं, निगोयाओ—निगोद, पुढ़वी—पृथ्वी, आऊ—आऊ, बाऊ—बाटु, बायर—बादर, अपञ्जत्त—अपर्याप्ति, तेऊ—तेजस्काय, तओ—उनसे।

**गायार्थ**—उनसे अपर्याप्ति बादर प्रत्येक वनस्पति के जीव असंख्यातमुणे हैं, उनसे बादर पर्याप्ति निगोद असंख्यातमुणे, उनसे

पर्याप्त बादर पृथ्वी, जल, धायुकाय के जीव अनुक्रम से असंख्यात्-गुण हैं और उनसे बादर अपर्याप्त तेजस्काय के जीव असंख्यात्-गुण हैं।

**विशेषार्थ**—पर्याप्त-अपर्याप्त द्वीन्द्रिय से पर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव भी अंगुल के असंख्यात्-वे भाग प्रमाण सूचिश्चेण सरीखे एक प्रतर के जितने खड़े होते हैं उतने बतलाये जा चुके हैं, तथापि अंगुल के असंख्यात्-वे भाग के असंख्यात् भेद होने से बादर पर्याप्त प्रत्येक वनस्पतिकाय के परिमाण के प्रसंग में अंगुल का असंख्यात्-वो भाग द्वीन्द्रिय के अंगुल के असंख्यात्-वे भाग से असंख्यात्-गुण हीन लेना थाहै। क्योंकि पर्याप्त वर्तमान अंगुल इन असंख्यात्-वो भाग छोटा लिया जाये तो उत्तर में बड़ी संख्या प्राप्त होगी। जिससे यहाँ किसी प्रकार मेरि विरोध नहीं है। प्रशापनासूत्र के महादंडक में भी अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के अनन्तर तत्काल बादर पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति असंख्यात्-गुण कही है।

कदाचित् यहाँ यह शंका हो कि महादंडक में अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के बाद तत्काल ही बादर पर्याप्त प्रत्येक वनस्पति के सम्बन्ध में कहे जाने से असंख्यात्-गुणता घट सकती है। परन्तु यहाँ तो अपर्याप्त द्वीन्द्रिय के बाद पर्याप्त-अपर्याप्त परेन्द्रिय और उसके बाद अनुक्रम से चतुरिन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और द्वीन्द्रिय के सम्बन्ध में कहा है। तत्परतात् पर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पति के लिये कहा है। जिससे वे असंख्यात्-गुणे किस तरह घट सकते हैं? बोच में और दूसरे बहुतों के सम्बन्ध में कहने के बाद वनस्पति के सम्बन्ध में कहे जाने से अपर्याप्त द्वीन्द्रिय से विशेषाधिक-पना ही घटित होता है।

इसका उत्तर यह है कि इसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। क्योंकि यद्यपि बीच में पर्याप्त-अपर्याप्त द्वीन्द्रियादि के सम्बन्ध में कहा है, लेकिन वे सभी पूर्व-पूर्व से विशेषाधिक बताये हैं। विशेषाधिक यानि पूर्व संख्या से कुछ अधिक परन्तु संख्यात्-गुण अधिक नहीं। जिससे

अपर्याप्ति द्वीन्द्रिय की अपेक्षा बादर पर्याप्ति प्रत्येक वनस्पति जीव असंख्यात् गुण कहे हैं, तो भी महा दंडक में पर्याप्ति अपर्याप्ति द्वीन्द्रिय की अपेक्षा असंख्यात् गुण ही कहे हैं, यह समझना चाहिये।

उनसे (पर्याप्ति बादर अस्त्रोद्धरसंस्पतिकाय के उत्तीर्णों से) बादर पर्याप्ति निर्गोदिया जीव-अनन्तकाय के जीव असंख्यात् गुण हैं। उनसे पर्याप्ति बादर पृथ्वीकायिक असंख्यात् गुण हैं, उनसे पर्याप्ति बादर जलकाय जीव असंख्यात् गुण हैं। यहाँ यद्यपि पर्याप्ति बादर प्रत्येक वनस्पति, पृथ्वीकाय और जलकाय के जीव अंगूल के असंख्यात् वर्वे भाग प्रमाण सूचिश्चेणि रूप खोड़ एक प्रतर में जितसे होते हैं, उतने सामान्य में बतलाये हैं लेकिन अंगूल के असंख्यात् वर्वे भाग के असंख्य भेद हैं, जिससे अंगूल का असंख्यात् वर्वा भाग अनुक्रम से असंख्यगुण हीन-हीन ग्रहण किये जाने से इस प्रकार असंख्येयगुण कहने में किसी प्रकार का दोष नहीं आता है। महादंडक में भी असंख्येयगुण कहा है।

बादर पर्याप्ति जलकाय से बादर पर्याप्ति वायुकाय जीव असंख्यात् गुण हैं। क्योंकि वे धनीकृत लोक के असंख्यात् वर्वे भाग में वर्तमान असंख्य प्रतर के आकाशप्रदेश प्रमाण हैं। उनसे भी असंख्यात् लोकाकाशप्रदेश प्रमाण होने से अपर्याप्ति बादर तेजस्काय जीव असंख्यात् गुण हैं।

अब अपर्याप्ति बादर वनस्पति आदि का अल्पबहुत्व बतलाते हैं—

**बादरतरुनिगोया पुढवीजलवाउतौउ तो सुहुमा ।**

**ततो विसेसअहिया पुढवीजलपवणकाया उ ॥७३॥**

**शब्दार्थ**—बादर—बादर, तरु—वनस्पति, निगोया—निगोद, पुढवी—अस्त्रवाउतौउ—पृथ्वी, जल, वायु और तेजस्काय, तो—उनसे, सुहुमा—सूक्ष्म, तस्मै—उनसे, विसेसआहिया—विशेषाधिक, पुढवीजलपवणकाया—पृथ्वी, जल, और वायुकाय, उ—और।

**गाथार्थ**—उनसे बादर अपर्याप्ति वनस्पतिकाय असंख्यात् गुण हैं, उनसे अपर्याप्ति बादर निगोद असंख्यात् गुण हैं, उनसे अपर्याप्ति

बादर पृथ्वी, जल और वायुकाय के जीव उत्तरोत्तर असंख्यात्-गुणे हैं, उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वी, जल और वायुकाय उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं।

**विशेषाधि**—पूर्व गाथा से अपर्याप्त पद की अनुदृति करके यहाँ यह आशय लेना चाहिये कि अपर्याप्त बादर तेजस्काय जीवों से अपर्याप्त प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय के जीव असंख्यात्-गुणे हैं। उनसे अपर्याप्त बादर निगोदिया जीव असंख्यात्-गुणे हैं। उनसे अपर्याप्त बादर पृथ्वी-काय जीव असंख्यात्-गुणे हैं। उनसे अपर्याप्त बादर जलकाय जीव असंख्यात्-गुणे हैं। उनसे अपर्याप्त बादर वायुकाय जीव असंख्यात्-गुणे हैं। उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म तेजस्काय जीव असंख्यात्-गुणे हैं। उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म जलकाय जीव विशेषाधिक हैं और उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय जीव विशेषाधिक हैं।

अब पर्याप्त सूक्ष्म तेजस्काय आदि सम्बन्धी अलबबहुत्व का निर्देश करते हैं—

संखेऽज सुहुमपञ्जत्त लेऽ किञ्चि (च) हिय भूजलमभीरा ।

ततो असंखगुणिया सुहुमनिगोया अपञ्जत्ता ॥७४॥

**शब्दाधि**—संखेऽज—संख्यात्-गुणे, सुहुम—सूक्ष्म, पञ्जत्त—पर्याप्त, लेऽ—तेजस्काय, किञ्चिहिय—विशेषाधिक, भूजलमभीरा—पृथ्वी, जल, और वायुकाय जीव, ततो—उनसे, असंखगुणिया—असंख्यात्-गुणे, सुहुमनिगोया—सूक्ष्म निगोद, अपञ्जत्ता—अपर्याप्त।

**गाथाधि**—उनसे सूक्ष्म पर्याप्त तेजस्काय जीव संख्यात्-गुणे हैं, उनसे पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वी, जल और वायु अनुक्रम से विशेषाधिक हैं। उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म निगोदिया जीव असंख्यात्-गुणे हैं।

**विशेषाधि**—अपर्याप्त सूक्ष्म वायुकाय के जीवों से पर्याप्त सूक्ष्म तेजस्काय के जीव संख्यात्-गुणे हैं। क्योंकि अपर्याप्त सूक्ष्म जीवों

से पर्याप्ति सूक्ष्म जीव सदैव अधिक होते हैं। उनसे पर्याप्ति सूक्ष्म पृथ्वी-कार्यिक जीव विशेषाधिक हैं, उनसे पर्याप्ति सूक्ष्म जलकार्यिक जीव विशेषाधिक हैं। उनसे पर्याप्ति सूक्ष्म वायुकाय के जीव विशेषाधिक हैं। उनसे अपर्याप्ति सूक्ष्म निगोदिया जीव असंख्यातगुणे हैं।

**संखेजजगुणा तत्त्वे पञ्जत्ताण्तया लभोऽभव्या ।**

**पङ्कवडियसम्मसिद्धा वण बायरजीव पञ्जस्ता ॥६५॥**

पञ्जत्तार्थ—संखेभवत्तुपां—हेत्यात्तुपे, तत्त्वे—उनसे, पञ्जस्ता—पर्याप्ति, अन्तया—अनन्त, तभोऽभव्या—उनसे अभव्य, पङ्कवडिय—प्रतिपतित, सम्म—सम्यग्भृष्टि, सिद्धा—सिद्ध, वण—वासना, बायर—बादर, जीव—जीव, पञ्जस्ता—पञ्जित।

भावार्थ—उनसे पर्याप्ति अनन्तकाय ( निगोदिया ) जीव संख्यातगुणे हैं। उनसे अभव्य अनन्तगुणे हैं; उनसे प्रतिपतित सम्यग्भृष्टि अनन्तगुणे, उनसे सिद्ध अनन्तगुण और उनसे पर्याप्ति बादर वनस्पतिकाय जीव अनन्तगुणे हैं।

विशेषार्थ—अपर्याप्ति सूक्ष्म निगोदिया जीवों से पर्याप्ति सूक्ष्म निगोदिया जीव संख्यातगुणे हैं। यद्यपि सामान्यतया अपर्याप्ति तेजस्काय से लेकर पर्याप्ति सूक्ष्म निगोदिया जीव पर्यन्त असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण कहे जाते हैं, तथापि असंख्यात के असंख्यात भेद होने से उपर्युक्त अल्पबहुत्व किसी भी तरह से विरुद्ध नहीं है।

पर्याप्ति सूक्ष्म निगोदिया जीवों से अभव्य जीव अनन्तगुणे हैं। वयोंकि वे जाग्न्य युक्तानन्तप्रमाण हैं।<sup>१</sup>

अभव्य जीवों से सम्यकत्व से गिरकर मिथ्यात्व गुणस्थान को प्राप्त अनन्तगुण हैं और उनसे भी सिद्ध जीव अनन्तगुण हैं और सिद्ध जीवों से पर्याप्ति बादर वनस्पतिकाय के जीव अनन्तगुण हैं।

? उक्तोमग्ने परिसार्थं रुद्रे पविष्ठते जहूमर्थं जुताणंतयं होइ, अभव्य-सिद्धियावि तत्त्विया चेत् ।

अब सामान्य पर्याप्त बादरादि विषयक अल्पवहृत्व कहते हैं—

**किंचि (च) हिया सामन्ना एए उ असंख वण अपञ्जता ।**

**एए सामन्नेण विसेसअहिया अपञ्जता ॥ ७६ ॥**

**शब्दार्थ**—किंचिहिया—कुछ अधिक (विशेषाधिक), सामन्ना—सामान्य, एए—ये एकेन्द्रिय जीव, उ—और, असंख—असंख्यातमुणे, वण—वनस्पतिकाय, अपञ्जता—अपर्याप्त, एए—ये, सामन्नेण—सामान्यरूप से, विसेसअहिया—विशेषाधिक, अपञ्जता—अपर्याप्त ।

**गाथार्थ**—उनसे सामान्य रूप में पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय विशेषाधिक है, उनसे अपर्याप्त बादर वनस्पतिकाय असंख्यातमुणे और उनसे सामान्य अपर्याप्त बादर विशेषाधिक है ।

**विशेषार्थ**—पर्याप्त बादर वनस्पतिकाय जीवों में सामान्य रूप से पर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीव विशेषाधिक है । कथोंकि पर्याप्त बादर पृथ्वीकायादि जीवों का भी उनमें समावेश होता है । उनसे अपर्याप्त बादर वनस्पतिकाय जीव असंख्यातमुणे हैं और उनसे भी वनस्पति आदि विशेषण से रहित बादर अपर्याप्त एकेन्द्रिय जीव सामान्य रूप से विशेषाधिक हैं ।

अब सूक्ष्म अपर्याप्त वनस्पति आदि के सम्बन्ध में कहते हैं—

**सुहुमा वणा असंखा विसेसअहिया इमे उ सामन्ना ।**

**सुहुमवणा संखेज्जा पञ्जता संख किंचि(च)हिया ॥ ७७ ॥**

**शब्दार्थ**—सुहुमा—सूक्ष्म, वणा—वनस्पतिकाय, असंखा—असंख्यातमुणे, विसेसअहिया—विशेषाधिक, इमे—ये, उ—और, सामन्ना—सामान्य, सुहुमवणा—सूक्ष्म वनस्पतिकाय, संखेज्जा—संख्यातमुणे, पञ्जता—पर्याप्त, संख—संब, किंचिहिया—कुछ अधिक (विशेषाधिक) ।

**गाथार्थ**—उनसे अपर्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीव असंख्यातमुणे हैं । उनसे सामान्य अपर्याप्त सूक्ष्म विशेषाधिक हैं । उनसे

पर्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीव संख्यातगुणे हैं और उनसे सब सूक्ष्म पर्याप्त विशेषाधिक हैं।

**विशेषाधि**—पूर्व गाथा में कहे गये अपर्याप्त बादर एकेन्द्रिय जीवों से सूक्ष्म अपर्याप्त वनस्पतिकाय जीव असंख्यातगुणे हैं। उनसे सामान्य वनस्पति आदि विशेषण से रहित अपर्याप्त सूक्ष्म जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि अपर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायादि के जीवों का भी उनमें समावेश होता है।

अपर्याप्त सूक्ष्म जीवों से पर्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकाय के जीव संख्यातगुणे हैं। क्योंकि अपर्याप्त सूक्ष्म जीवों से पर्याप्त सूक्ष्म जीव तथास्वभाव से सदैव संख्यातगुणे ही होते हैं और केवलज्ञानी द्वारा वैसा जाना—देखा गया है।

पर्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीवों से समस्त पर्याप्त सूक्ष्म पृथ्वीकायादि का भी समावेश हो जाने से सभी पर्याप्त सूक्ष्म जीव विशेषाधिक हैं।

**शंका**—पर्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीवों से सभी पर्याप्त सूक्ष्म जीव असंख्यातगुणे न कहकर विशेषाधिक क्यों कहे गये हैं? जबकि बहुत बड़ी संख्या वाले सूक्ष्म पृथ्वीकाय जीवों का भी उनमें समावेश हो जाता है।

**उत्तर**—पर्याप्त सूक्ष्म जीव पूर्वोक्त संख्या से किसी भी तरह असंख्यातगुणे नहीं होते हैं। क्योंकि पर्याप्त सूक्ष्म वनस्पतिकाय जीवों की अपेक्षा पर्याप्त पृथ्वीकायादि सभी सूक्ष्म जीव भी बहुत अल्प संख्या वाले हैं। क्योंकि पर्याप्त सूक्ष्म वनस्पति जीव अनन्त लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण हैं और पृथ्वीकायादि सभी सूक्ष्म पर्याप्त जीव असंख्यात लोकाकाशप्रदेश प्रमाण ही हैं।

अब पर्याप्तपर्याप्त सूक्ष्मादि के सम्बन्ध में बतलाते हैं—

पञ्जस्तापञ्जस्ता सुहुमा किञ्चिच(च)हिया भव्वसिद्धीया ।

तत्तो बायर सुहुमा निगोय वणस्सइजिया तत्तो ॥७८॥

**शब्दार्थ**—पठास्तापठास्तर—पर्याप्ति-अपर्याप्ति, सुहमा—सूक्ष्म, किञ्चिहिया—कुछ अधिक (विशेषाधिक), भव्यसिद्धीया—भव्यसिद्धिक, उत्तो—उत्तरे, बायर—बादर, सुहमा—सूक्ष्म, निर्गोष—निर्गोदिया जीव, वनस्पति—वनस्पति, जिया—जीव, तस्तो—उत्तरे ।

**गाथार्थ**—उनसे पर्याप्ति-अपर्याप्ति सूक्ष्म जीव विशेषाधिक हैं । उनमें भव्यसिद्धिक जीव विशेषाधिक हैं । उनसे बादर सूक्ष्म निर्गोदिया जीव विशेषाधिक हैं और उनसे सभी वनस्पति जीव विशेषाधिक हैं ।

**विशेषार्थ**—सभी पर्याप्ति सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीवों से पर्याप्ति-अपर्याप्ति सभी सूक्ष्म एकेन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं । उनसे भव्यसिद्धिक जीव विशेषाधिक हैं । क्योंकि सर्व जीवों की संख्या में से जघन्य युक्तान्तर प्रमाण अभव्यों की संख्या को कम करने पर जेष्ठ सभी जीव भव्य हैं, अतएव पूर्वोक्त संख्या (पर्याप्ति-अपर्याप्ति सूक्ष्म एकान्द्रिय जीवों की संख्या) भी भव्य जीव विशेषाधिक है । उनसे भी बादर और सूक्ष्म दोनों मिले हुए निर्गोदिया जीव विशेषाधिक है । क्योंकि उनमें किसने ही अभव्य जीवों की संख्या का भी समावेश हो जाता है ।

**प्रश्न**—भव्य जीवों से बादर और सूक्ष्म निर्गोदिया जीव असंख्यात या असंख्यातगुणे न बलाकर विशेषाधिक वर्णों बताये हैं ? क्योंकि निर्गोद में भव्य, अभव्य दोनों प्रकार के जीव हैं तथा निर्गोद के सिवाय अन्य जीवभेदों में भी भव्य जीव हैं । जिससे निर्गोद और उनके अलावा दूसरे जीवभेदों में रहे हुए भव्य जीवों से मात्र निर्गोदिया जीव कि जिनमें अनन्त अभव्य भी बर्तमान है, वे विशेषाधिक कौसे हो सकते हैं ?

**उत्तर**—भव्य जीवों से बादर और सूक्ष्म निर्गोदिया जीव किसी भी प्रकार से संख्यात या असंख्यातगुणे घटित नहीं हो सकते हैं । क्योंकि यहाँ अभव्य से रहित मात्र भव्यों का विचार किया है । अभव्य युक्तान्तर संख्याप्रमाण हैं और बादर सूक्ष्म निर्गोद व्यतिरिक्त जेष्ठ

सभी जीवों का कुल योग असंख्य लोकाकाश प्रदेशराशि प्रमाण ही है, जिससे अभव्यों और भव्यों की बहुत बड़ी संख्या तो बादर निगोद में ही रही हुई है अन्यत्र नहीं तथा भव्य की अपेक्षा अभव्य बहुत ही कम है—अनन्तवें भागमात्र हैं, जिससे अभव्य अनन्त जीव सूक्ष्म बादर निगोद में रहे हुए होने पर भी कुल भव्य जीवों से बादर सूक्ष्म निगोदिया जीवों की संख्या विशेषाधिक ही होती है।

इन सूक्ष्म बादर निगोदिया जीवों की अपेक्षा सामान्य से बनस्पति जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि उनमें प्रत्येक शरीरी बनस्पतिकाय के जीवों का भी समावेश हो जाता है।

अब सामान्य एकेन्द्रियादि का अत्यबहुत्व कहते हैं—

**एगिदिया तिरिक्खा चउगदमिल्ला य अविरहजुया य ।**

**सकसाया छउभत्था सजोगसंसारि सव्वेचि ॥७८॥**

**शब्दार्थ—**एगिदिया—एकेन्द्रिय, तिरिक्खा—तिर्यच, चउगदमिल्ला—चारों गति के मिथ्याहृष्टि जीव, य—और, अविरहजुया—अविरतिसहित, य—और, सकसाया—सकषायी, छउभत्था—छद्मस्थ, सजोग—योग्यासे, संसारि—संसारी, सव्वेचि—सभी।

**शास्त्रार्थ—**उनसे एकेन्द्रिय, तिर्यच, चारों गति के मिथ्याहृष्टि जीव, अविरति, सकषायी, छद्मस्थ, योग वाले और सभी संसारी जीव उत्तरोत्तर विशेषाधिक हैं।

**विशेषाधिक—**समस्त बनस्पतिकाय जीवों से सामान्यतः एकेन्द्रिय जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि बादर और सूक्ष्म पृथ्वीकायादि जीवों की संख्या का भी उनमें समावेश हो जाता है। अपर्याप्त हीन्द्रियादि जीवों की संख्या का भी उनमें समावेश हो जाने से सामान्यतः तिर्यच उनसे विशेषाधिक हैं।

तिर्यचों से चारों गति के मिथ्याहृष्टि जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि अविरतसम्यग्हृष्टि आदि गुणस्थान वाले कितने ही सभी पञ्चेन्द्रियों

के सिवाय शेष सभी तिर्यक मिथ्याहृष्टि हैं। अतः उनका तथा असंख्य मिथ्याहृष्टि नारक, देव और मनुष्य जीवों का उनमें समावेश हो आता है। जिससे तिर्यक जीवों की अपेक्षा चारों गति के मिथ्याहृष्टि जीव विशेषाधिक कहे हैं।

चालुगतिक मिथ्याहृष्टि जीवों से अविरतलिङ्ग—द्वितीय द्वितीय के जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि कितने ही अविरतसम्याहृष्टि जीवों का उनमें समावेश होता है।

अविरत जीवों की अपेक्षा कषाययुक्त जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि देशविरत से लेकर सुक्ष्मसपराय पर्यंत गुणस्थानों में वर्तमान जीवों का उनमें समावेश होता है।

सक्षायी जीवों से छद्मस्थ विशेषाधिक हैं। क्योंकि उनमें उपशांत-मोही एवं अशीणमोही जीवों का भी समावेश है।

छद्मस्थ जीवों से सयोगी जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि उनमें सयोगिकेवली गुणस्थानवर्ती जीव भी गम्भित हैं।

संसारी जीवों से संसारी जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि उनमें अधोगिकेवली गुणस्थानवर्ती जीवों का भी समावेश है।

संसारी जीवों की अपेक्षा सभी जीव विशेषाधिक हैं। क्योंकि सिद्ध जीवों का भी उनमें समावेश है।

इस प्रकार सामान्यतः सबंजीवों की अपेक्षा अल्पबहुत्व जानना चाहिए।

### गुणस्थानापेक्षा अल्पबहुत्व

उवसांतखवगजोगी अपमत्तापमल देससासाणा ।

मीसाविरया चउ चउ जहुतरं संखंसंखगुणा ॥८०॥

शब्दार्थ—उवसांत—उपशांत, छवय—क्षणक, जोगी—योगी, अपमल—अप्रमल, पमल—प्रमल, देस—देशविरति, सासादन—सासादनवर्ती, मीसाविरया—मिथ्र और अविरतसम्याहृष्टि, चउ—चार, चउ—चार, जहुतरं—उत्तरोत्तर, संखसंखगुणा—संख्यात् असंख्यात् गुणे।

**गाथोक्तं**—उपशमश्रेणि वाले उपशमक और उपशांतमोही से क्रमशः क्षपक, सयोगि, अप्रमत्त ये चार उत्तरोत्तर संख्यात् संख्यात् गुणे हैं और उनसे देशविरत, सासादन, मिश्र और अधिरत ये चार उत्तरोत्तर असंख्यात् गुण हैं।

**दिशेभार्यं**—याथा में गुणस्थानापेक्षा जीवों का अल्पबहुत्व बतलाया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

गाथोक्त उवसंत पद से चारित्रमोहनीय की उपशमना करने वाले आठवें, नौवें और दसवें गुणस्थान तथा चारित्रमोहनीय की संख्या उपशमना करने वाला चारहबां गुणस्थान, इस तरह दोनों प्रकार के गुणस्थानों का ग्रहण करना चाहिये। इसी तरह गाथोक्त खण्ड पद से भी चरित्रमोहनीय की अपेक्षा करने वाले आठवें से दसवें मुख्यांगों तक और चारहबां क्षीणमोहगुणस्थान, इस तरह चार गुणस्थानों का ग्रहण करना चाहिये। अतएव उपशांत से बाद के चार गुणस्थानवर्ती जीव उत्तरोत्तर संख्यात् गुण हैं और उनसे परे के चार गुणस्थानवर्ती जीव उत्तरोत्तर असंख्यात् गुण हैं। जो इस प्रकार जानना चाहिये—

उपशमक आठवें से दसवें गुणस्थान तक के जीव और उपशांतमोही जीव सबसे अल्प हैं। क्योंकि श्रेणि के सम्पूर्ण काल की हृष्टि से विचार करने पर भी अधिक ले अधिक वे एक, दो, तीन आदि नियत संख्या प्रमाण हैं। उनसे क्षपक और क्षीणमोही जीव संख्यात् गुण हैं। क्योंकि उनकी श्रेणि के सम्पूर्ण काल की हृष्टि से भी उल्कुष्ट संख्या शतपृथक्त्व प्रमाण है। उपशम और क्षपक श्रेणि के विषय में कहा गया उपर्युक्त अल्पबहुत्व जब दोनों श्रेणियों में अधिक से अधिक जीव होते हैं तब घटित होता है। इसका कारण यह है कि किसी समय इन दोनों श्रेणियों में कोई जीव होता भी नहीं है। किसी समय दोनों में होते हैं और समान होते हैं, किसी समय उपशमक कम और क्षपक जीव अधिक होते हैं, किसी समय क्षपक कम और उपशमक अधिक होते हैं। इस प्रकार अनियतता से होते हैं।

क्षपक जीवों से सयोगिकेवली संख्यात् गुणे हैं। क्योंकि कम से कम वे कोटिपृथक्त्व होते हैं।

उनसे अप्रमत्तयति संख्यातगुणे हैं, क्योंकि वे दो हजार करोड़ प्रमाण हो सकते हैं।

उनसे प्रमत्तविरत जीव संख्यातगुणे हैं। क्योंकि वे कोटिसहस्र-पृथक्त्व होते हैं।

उनसे भी देशविरत असंख्यातगुणे हैं और उनके असंख्यातगुणे होने का कारण असंख्यात<sup>१</sup> तिर्यक्त्रों को देशविरतसमूणस्थान होना संभव है।

उनसे भी सासादनसम्यग्वटि जीव असंख्यातगुणे हैं। यह गुणस्थान अनित्य होने से जब उसमें उत्कृष्ट संख्या होती है तब यह अल्पबहुत्व घटित होता है। क्योंकि किसी समय वे सर्वथा होते भी नहीं हैं और यदि किसी समय होते हैं तब ज्यथन्य से एक दो भी होते हैं और उत्कृष्ट से देशविरति के प्रमाण में हेतुभूत क्षेत्र पल्योपम के असंख्यातवे भाग की अपेक्षा असंख्यातगुण वा क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवे भाग में बर्तमान आकाशप्रदेश प्रमाण होते हैं।

उनसे मिथ्यवटि जीव असंख्यातगुणे हैं। वे सासादन के प्रमाण में हेतुभूत क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवे भाग की अपेक्षा असंख्यातगुणे बड़े क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवे भाग में रखे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण हैं। यह गुणस्थान भी अनित्य होने से जब उसमें उत्कृष्ट संख्या हो तभी यह अल्पबहुत्व घटित होता है। जब होते हैं तब ज्यथन्य से एक दो जीव होते हैं और उत्कृष्ट से उपर्युक्त संख्या होती है।

उनसे भी अविरतसम्यग्वटि जीव असंख्यातगुणे हैं। क्योंकि वे मिथ्यवटि की अपेक्षा असंख्यात गुणे बड़े क्षेत्रपल्योपम के असंख्यातवे भाग में रहे हुए आकाशप्रदेश प्रमाण हैं।

अब उपर्युक्त गुणस्थानों से शेष रहे गुणस्थानों सम्बन्धी अल्पबहुत्व का निर्देश करते हैं—

१ यहाँ असंख्यात का प्रमाण क्षेत्रपल्योपम का असंख्यातवे भाग ज्ञानवाह चाहिये।

उक्कोसपए संता भिक्षा लिसु गईसु होतसंखगुणा ।  
हिरिए सांखतगुणिया सन्तिसु मणुएसु संखगुणा ॥६१॥

**शब्दार्थ**—उक्कोसपए—उत्कृष्ट पद में, संता—होते हैं, भिक्षा—भिक्षा-हृष्टि जीव, लिसु गईसु—तीनों गतियों में, होतसंखगुणा—असंख्यातगुणे हैं, हिरिए—तिर्यचगति में, सांखतगुणिया—वे अनन्तगुणे, सन्तिसु—संजी, मणुएसु—मनुष्यों में, संखगुणा—संख्यातगुणे ।

**गायार्थ**—( तिर्यच के सिवाय ) तीन गतियों में उत्कृष्ट पद में वर्तमान भिक्षाहृष्टि जीव असंख्यातगुणे होते हैं । उनसे तिर्यचगति में भिक्षाहृष्टि जीव अनन्तगुणे हैं और संजी मनुष्य संख्यातगुणे हैं ।

**विशेषार्थ**—पूर्व में सासादनसम्यग्हृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यन्त बारह गुणस्थानों सम्बन्धी अल्पबहुत्व का निर्देश किया है । अब शेष रहे भिक्षाहृष्टि और अंतिम चौदहवें अयोगिकेवलीगुणस्थान सम्बन्धी अल्पबहुत्व को बतलाते हैं ।

पूर्वोक्त अविरतसम्यग्हृष्टि जीवों से नारक, मनुष्य और देव इन हीन गतियों में उत्कृष्ट पद में वर्तमान भिक्षाहृष्टि जीव असंख्यातगुणे हैं और उनसे भी तिर्यचगति में वर्तमान भिक्षाहृष्टि जीव सभी निर्गोद्दिया जीवों के भिक्ष्यात्मी होने से अनन्तगुणे हैं तथा गर्भज मनुष्यों में अविरतसम्यग्हृष्टि गुणस्थान वाले मनुष्यों से भिक्षाहृष्टि मनुष्य संख्यातगुणे ही हैं । क्योंकि कुल मिलाकर वे संख्या में संख्यात ही हैं तथा भवस्थ अयोगिकेवली जीव अपक सुल्य जानना चाहिये । क्योंकि उनकी संख्या भी अधिक से अधिक शतपूर्थकत्व प्रभाण ही होती है और अभवस्थ अयोगिकेवली अविरतसम्यरहृष्टि जीवों से अनन्तगुणे हैं । क्योंकि सिद्ध अलन्त हैं और वे सभी अयोगि हैं ।

इस प्रकार अल्पबहुत्व प्ररूपणा जानना चाहिये । इसके साथ ही

सत्पदादि प्रलेपणाभीं का विचार समाप्त होता है। अब पूर्व में जीवों के चौदह भेदों का वर्णन किया गया है। उन चौदह भेदों का नाम बतलाते हैं।

**जीवस्थानों के भेद और नाम**

**एगिदियसुहुमियरा सन्नियर पणिदिया सदि-ति-चउ।**

**पञ्जलापञ्जलाभेषण् चोददसगगामा ॥८२॥**

**शब्दार्थ**—एगिदिय—एकेन्द्रिय, सहुमियरा—सूक्ष्म और इतरवादर, सन्नियर—संज्ञी और इतर-असंज्ञी, पणिदिया—पंचेन्द्रिय, सवितिचउ—हि, कि चतुः-इन्द्रिय सहित, पञ्जलापञ्जला—पर्याप्त-अपर्याप्त, भेषण—भेद से, चोद-सगगामा—चौदह प्रकार।

**गाथार्थ**—सूक्ष्म और वादर एकेन्द्रिय, संज्ञी और असंज्ञी पंचेन्द्रिय तथा द्विन्द्रिय, श्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय सहित इन सातों के पर्याप्त-अपर्याप्त के भेद से जीवों के चौदह प्रकार हैं।

**विशेषार्थ**—गाथा में चौदह जीवस्थानों के नाम बतलाये हैं। जिन्हें जीवग्राम भी कहते हैं। उन जीवस्थानों के नाम इस प्रकार हैं—

सूक्ष्म नामकर्म के उदयवाले सूक्ष्म और वादर नामकर्म के उदय वाले वादर, इस तरह एकेन्द्रिय दो प्रकार हैं। अर्थात् सूक्ष्म एकेन्द्रिय और वादर एकेन्द्रिय ये एकेन्द्रिय के दो भेद हूए तथा 'सन्नियर पणिदिया' अर्थात् संज्ञी और असंज्ञी इस तरह पंचेन्द्रिय जीव दो प्रकार के हैं तथा 'सवितिचउ' अर्थात् द्विन्द्रिय, श्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय, इस प्रकार कुल मिला कर जीवों के सात भेद होते हैं। ये प्रत्येक पर्याप्त एवं अपर्याप्त के भेद से दो-दो प्रकार के हैं अर्थात् ये पर्याप्त भी होते हैं और अपर्याप्त भी। अतएव पर्याप्त और अपर्याप्त की अपेक्षा सात-सात प्रकारों को मिलाने से जीवों के कुल चौदह भेद होते हैं। जो जीवस्थान, जीवग्राम अथवा भूतग्राम कहलाते हैं।

इन चौदह जीवस्थानों का पहले विस्तार से विवेचन किया जा चुका है। अतः तदनुसार इनका स्वरूप जान लेना चाहिये। अब पूर्व में जो यह कहा था कि जीवस्थानों में अतिम संज्ञी पञ्चेत्रिय पर्याप्ति ऐद गुणस्थानों की अपेक्षा से चौदह प्रकार का होता है, अतः उन गुणस्थानों के नाम बतलाते हैं।

### गुणस्थानों के नाम

**मिद्धा सासाणमिस्सा अविरयदेसा प्रभत्त अपमत्ता ।**

**अपुव्व बायर सुहुभोवसंतखीणा सजोगियरा ॥८३॥**

**शब्दार्थ—मिद्धा—**मिथ्यात्व, **सासादन—**सासादन, **मिस्सा—**मिश्र, **अविरय—**अविरतसम्यग्हटिट, **देसा—**देशविरत, **प्रभत्त—**प्रभत्तविरत, **अप्रभत्त—**अप्रभत्तविरत, **अपुव्व—**अपूर्वकरण, **बायर—**अनिवृत्तिबायर, **सुहुभोवसंत—**सुक्षमसंपराय और उपशांतभोह, **खीणा—**क्षीणभोह, **सजोगियरा—**सजोगि और इतर अयोगि।

**गाथार्थ—**मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत, देशविरत, प्रभत्त, अप्रभत्त, अपूर्व, बायर, सूक्ष्म, उपशांत, खीण, सजोगि और इतर अयोगि ये चौदह गुणस्थानों के नाम हैं।

**विशेषार्थ—**गाथा में चौदह गुणस्थानों के नामों का संकेतमात्र किया है। जिनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) मिथ्यात्व, (२) सासादनसम्यग्हटिट, (३) मिश्रहटिट, (४) अविरतसम्यग्हटिट, (५) देशविरत, (६) प्रभत्तसंयत, (७) अप्रभत्तसंयत, (८) अपूर्वकरण, (९) अनिवृत्तिबायरसंपराय, (१०) सुक्षमसंपराय, (११) उपशांतभोह, (१२) खीणभोह, (१३) सजोगिकेवली और (१४) अयोगिकेवली। प्रत्येक के साथ गुणस्थान शब्द जोड़ने से इनका पूरा नाम हो जाता है। यथा—मिथ्यात्वगुणस्थान, सासादनसम्यग्हटिटगुणस्थान आदि। इनका स्वरूप पहले योगोपयोगमार्गणा अधिकार में विस्तार से बतलाया जा चुका है। अतएव यही उनका पुनः वर्णन नहीं किया है।

इस प्रकार गुणस्थानों के नाम बतलाने के बाद अब गुणस्थानों में वर्तमान जो जीव कर्म का बंध करते हैं, उसको बतलाते हैं—

तेरस विबंधगा ते अट्ठविहं बंधियव्ययं कर्म।

मूलुत्तरभेयं ते साहिमो ते निसामेह ॥८४॥

**गाथार्थ**—तेरस—तेरह गुणस्थानवर्ती, विबंधगा—बंधक, ते—वे, अट्ठविह—आठों प्रकार के, बंधियव्यय—बंधनेयोग्य, कर्म—कर्म के, मूलुत्तरभेय—मूल और उत्तर के भेद वाले, ते—उनको, साहिमो—कहते हैं—बतलाते हैं, ते—उनको, निसामेह—मुनो ।

**गाथार्थ**—तेरह गुणस्थानवर्ती जीव मूल और उत्तर भेदवाले बंधनेयोग्य आठ प्रकार के कर्मों के बंधक हैं । अब उनको बतलाते हैं, जिसे तुम सुनो ।

**विशेषार्थ**—मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोगिकेवली पर्यान्त तेरह गुणस्थानों में वर्तमान जीव यथायोग्य रीति से प्रतिसमय आठ, सात, छह या एक कर्म की बांधते हैं । किन्तु अयोगिकेवली गुणस्थानवर्ती जीव बंधहेतुओं का अभाव होने से एक भी कर्म का बंध नहीं करते हैं ।

बंधनेयोग्य वस्तु के बिना किसी भी तरह से कोई भी बंधक नहीं हो सकता है । वह बंधनेयोग्य वस्तु मूल और उत्तर के भेद वाले कर्म हैं । उनमें कर्म के मूलभेद आठ हैं और उत्तरभेद एक सौ अट्ठावन हैं । इन मूल और उत्तर भेदों का आगे विस्तार से वर्णन किया जा रहा है ।

इस प्रकार यह बंधक-प्रलयणा नामक दूसरा अधिकार पूर्ण होता है ।



## परिशिष्ट (१)

### बंधक-प्ररूपणा अधिकार की मूल गाथाएँ

चउदसविहा वि जीवा विबंधना तेसिमतिमो भेओ।  
 चौदसहा सब्बे वि हु किमाइसताइपयनेया ॥१॥  
 कि जीवा ? उक्समाइएहि भावेहि सजुयं दब्बे।  
 कस्स ? सरूबस्स पहु केणति ? न केणह कया उ ॥२॥  
 कत्थ ? सरीरे लोए व हुंति केवचिर ? सब्ब कालं तु।  
 कई भावजुया जीवा ? दुम-लिंग-चउ-पंचमीसेहि ॥३॥  
 सुरनेरइया तिसु तिसु वाउपणिदीतिरक्ख चउ चडमु।  
 मणुया पंचसु सेसा तिसु तणुसु अविम्महा सिढा ॥४॥  
 पुढवाई चउ चउहा साहारवणपि सतयं सययं।  
 पत्तेय पञ्जपञ्जा दुविहा सेसा उ उवक्खा ॥५॥  
 मिच्छा अविरयदेसा पमल अपमत्तया सजोगी य।  
 सब्बद्द इयरगुणा नाणा जीवेसु वि न होंति ॥६॥  
 इगदुगजीगाईण ठवियमहो एगणेभ इह जुथलं।  
 इगिजोगाउ दुकु गुणा गुणियविमिस्सा भवे भंगा ॥७॥  
 अहवा एककपईया दो भंगा इगिबहुतसम्भा जे।  
 ते चिच्चिय पथदुड्डीए तिगुणा दुगसजुया भंगा ॥८॥  
 साहारणाण भेया चउरो अणता असंख्या सेसा।  
 मिच्छाणता चउरो पलियासखस सेस सखेज्जर ॥९॥  
 पत्तेयपञ्जजवणकाइयाउ पयर हरति लोगस्स।  
 अंगुल - असंखभागेण भाइयं भूदगत्तू य ॥१०॥

आबलिवग्नो अन्तरावलीय गुणिओ हु बायरा तेऊ।  
 बाऊ य लोगसखं सेसतिगमसाखया लोगा ॥११॥  
 पजस्तापजत्ता बि-ति-चउ असञ्जियो अवहर्ति।  
 अंगुल - सखासखाप्यएसभइयं पुढो पयरं ॥१२॥  
 सन्धी चउसु मईसु पठमाए असखसेढि नेरहया।  
 सेढिअसखेजंजसो सेसासु जहोतर तह य ॥१३॥  
 सखेजजोयणाण सूहपएसेहि भाइओ पयरो।  
 उतरसुरेहि हीरह एवं एकेकभेए ण ॥१४॥  
 छपनदोसयंगुल सूहपएसि भाइओ पयरो।  
 जोइसिएहि हीरह सट्टाण तथीय संखगुणा ॥१५॥  
 असखसेढिखपएसतुल्लया पठम दुइय कपीसु।  
 सेढि असखसमा उवरि तु जहोतर तह य ॥१६॥  
 सेढिएकेकपएसरहय सूहणमंगुलप्यभियं।  
 बंसाए भवणसोहम्मयाणमाण इम होइ ॥१७॥  
 छपनदोसयंगुल भूओ भूओ विगवम मूलतिग।  
 गुणिया जहुलरत्या रासीओ कमेण सूइओ ॥१८॥  
 अहवंगुलप्यएसा समूलगुणिया उ नेरहयसूई।  
 पठपदुहयापथाइ समूलगुणियाइ इयराण ॥१९॥  
 अंगुलमूलासखियभागप्यमिया उ होति सेढीओ।  
 उत्तरविडवियाण तिरियाण य सञ्जिपञ्जाण ॥२०॥  
 उकोसणए मणुया सेढी रुचाहिया अवहर्ति।  
 तहयमूलाहएहि अंगुलमूलप्यएसेहि ॥२१॥  
 सासायणाइचउरो होति असखा अणतया मिच्छा।  
 कोडिसहस्सपुहुत्तं पमतहयरे उ थोवयरा ॥२२॥  
 एगाह चउपणा समग्रं उवसामग्राय उवसरा।  
 अद्व पढुच्च सेढीए होति सब्बेवि सखेज्जा ॥२३॥

खवया खीणाजोगी एगाइ जाव होति अट्ठसयं ।  
 अद्वाए सयपुहुत्तं कोडिपुहुत्तं सजोगीओ ॥२४॥  
 अपञ्जत्ता दोषवि सुहमा एगिदिया जए सक्षे ।  
 सेसा य असखेज्जा बायरपदणा असखेसु ॥२५॥  
 सल्लादन्नाइ सखे लोमरह अहोलविम भागम्म ।  
 मिच्छा उ सब्बलोए होइ सजोगी वि समुगधाए ॥२६॥  
 वंयण - कसाय - मारण - वेडविय-तेउ-हार-केवलिया ।  
 सग पण चउ तित्ति कमा मणुसुरनेरइयतिरियाण । २७॥  
 पंचनिंदियतिरियाण देवाण व होति पंच सक्षीण ।  
 वेडवियवाळण पढमा चउरो समुगधाया ॥२८॥  
 चउदसविहावि जीका समुगधाएण फुसति सब्बजग ।  
 रिउसेढीए व कई एव मिच्छा सजोगी या ॥२९॥  
 मीसा अजया अड अड बारस सासायणा छ देसजई ।  
 सग सेसा उ फुसति रज्जू खीणा असखसं ॥३०॥  
 सहसारतियदेवा नारयनेहेण जति तइय-वं ।  
 निज्जति अच्छयं जा अच्छयदेवेण इयरसुरा ॥३१॥  
 छट्टाए नेरहजी सासणभावेण एह तिरिमणुए ।  
 लोगतनिकुडेसु जतिउने सासणगुणत्था ॥३२॥  
 उवसामयउवसंता सब्बटु अप्पमत्तविरया य ।  
 गच्छन्ति रिउगईए पु देसजया उ बारसमे ॥३३॥  
 सत्तण्हमपञ्जाण अंतमुहुत्तं दुहावि सुहमाण ।  
 सेसाणपि जहन्ना भवठिई होइ एमेव ॥३४॥  
 बावीससहस्राइ बारस बासाइ अउणपन्नदिणा ।  
 छम्मास पुब्बकोडो तेस्तीसयराइ चक्कोसा ॥३५॥  
 होइ अणाइ अणांतो अणाइ संतो य साइसंतो य ।  
 देसूणपोग्गलझ अंतमुहुत्तं चरिमभिच्छो ॥३६॥

पोभालपश्यद्वौ इह दब्बाइ चउच्चिहो मुखेयब्बो ।  
 एककेकको पुण दुविही बायरसुहुमत्तभेएण ॥३७॥  
 संसारमि अडतो जावय कालेण फुसिय सञ्चाण ।  
 ईग जीवु मुद्दइ बायर अलयरतणुट्ठिओ सुहुमो ॥३८॥  
 लोगस्स पएसेसु अण्ठतरपरपराविभत्तीहि ।  
 खेत्तामि बायरो सो सुहुमो उ अण्ठतरमयस्स ॥३९॥  
 उस्सतिपणिसमएसु अण्ठतरपरपराविभत्तीहि ।  
 कालम्मि बायरो सो सुहुमो उ अण्ठतरमयस्स ॥४०॥  
 अणुमागद्वाणेसु अण्ठतरपरपराविभत्तीहि ।  
 भाविभि धायरो चो सुहुभी सेवेतुथुक्कमसो ॥४१॥  
 आवलियाण छक्क समयादारव्वम सासणो होइ ।  
 मीसुबसम अतमुहु खाइयद्वौ अण्ठतद्वा ॥४२॥  
 वेयग अविरयसम्मो लेत्तीसयराइ साइरेगाइ ।  
 अतमुहुत्ताओ पुञ्चकोडी देसो उ देशूणा ॥४३॥  
 समयाओ अतमुहु पमत्ता अपमत्ताय भयंति मुणी ।  
 देशूण पुञ्चकोडि अन्तेन्त चिट्ठिभि भवता ॥४४॥  
 समयाओ अतमुहु अपूञ्चकरण उ जाव उवसतो ।  
 खीणाजेगीणलो देसस्सव जोगिणो कालो ॥४५॥  
 एगिदियाणणला दोण्णि सहस्सा तसाण कायठिई ।  
 अयराण हगपणिदिसु नरतिरियाण सगद्दु भवा ॥४६॥  
 पुञ्चकोडिपुहुत्त पल्लतिय तिरितराण कालेण ।  
 नाणाइगपञ्जजत्त मणुष्यपल्लसंखस अतमुहु ॥४७॥  
 पुरिसत्त सन्नित्त सयपुहुत्त तु होइ अयराण ।  
 थो प्रलियसयपुहुत्त, नपुसयत्त अण्ठतद्वा ॥४८॥  
 बायरपञ्जेगिदिय दिग्गत्ताण य चाससहस्स सखेजाण ।  
 अपञ्जत्त सुहुमसाहारणाण ॥४९॥ पर्वते गमतमुहु ॥४९॥

पत्तेय बायरस्स उ परमा हरियस्स होइ कायठिई ।  
 ओसप्पिणी असंखा साहारत् रिजगद्यल् ॥५०॥  
 मोहठिइ बायराण सुहुमाण असंखया भवे लोगा ।  
 साहारणेसु दोसदपुमला निविसेसाण ॥५१॥  
 सासाणमीसाओ छवति सन्तया पलियसंखड्गकाला ।  
 उवसामग उवसंता समयाओ अंतरमुहुत् ॥५२॥  
 खवगा खीणाजोगी होति अणिच्चावि अंतरमुहुत् ।  
 नाणा जीवे तं चिय सत्तहि समएहि अवभहिय ॥५३॥  
 एगिदित्त समयं लसत्तणं सम्मदेसचारित् ।  
 आबलियासंखंसं अडसमयं चरित् सिढी य ॥५४॥  
 उवसमेढी उवसंतया य मणुयत्तपुत्तरसुरत् ।  
 पदिकज्जते समया संखेया खवगसेढी य ॥५५॥  
 बलीसा अडयाला सद्वी बावत्तरी य चलसीडी ।  
 छनउइ दुअटुसयं एगाए जहुतरे समए ॥५६॥  
 यहमयतिरिमणुमुरमारयाण विरहो मुहुत बारसगं ।  
 मुच्छुमनराण चउबीस विगल अमणाण अंतमुह ॥५७॥  
 लसबायरसाहारण असन्ति अपुमाण जो ठिईकालो ।  
 सो इयराण विरहो एवं हरियेराण च ॥५८॥  
 आईसाण अमरस्स अंतरं हीणयं मुहुतातो ।  
 आसहस्तारे अच्छुयणुत्तर दिण यास वास नव ॥५९॥  
 थावरकालुक्कोसो सबद्वे बीयओ न उववाओ ।  
 दो अयरा विजयाइसु नरएसु विद्याणुमाणेण ॥६०॥  
 पलियासंखो सासायणंतरं सेसगाण अंतमुह ।  
 मिळछरस वे छसद्डी इयराण पोगलद्वतो ॥६१॥  
 वासपुहुत्त उवसामगाण विरहो छमास खदगाण ।  
 नाणा सुधजी सासाणमीसाण पल्लसंखसो ॥६२॥

सम्माईं तिनि गुणा कमसो समचोहपश्चरदिणाणि ।  
 छम्मास अजोगिलो न कोवि पडिवज्जए सयय ॥६३॥  
 सम्माइ चउसु तिथ चउ उकसममुवसंतयाण चउ पंच ।  
 चउ खीणअपुच्चाण तिनि उ भावावसेसाण ॥६४॥  
 थोवा गबभय मणुया तत्तो इत्थीओ तिघणगुणियाओ ।  
 बायर तेउवकाया तासिमसेज्ज पज्जत्ता ॥६५॥  
 तत्तोणुलरदेवा तत्तो सखेज्ज जाणओ कणो ।  
 तत्तो असंखगुणिया सलम छट्ठी सहस्रारो ॥६६॥  
 सुक्कमि पचमाए लंतय चोत्थीए बंध तच्चाए ।  
 माहिद सर्णकुमारे दोच्चाए मुच्छिया मणुत्रा ॥६७॥  
 द्विसाणे सञ्चत्थवि वस्तीसगुणाओ होति देवीओ ।  
 सखेज्जा सोहम्मे लओ असखा भवणवासी ॥६८॥  
 रथणप्पभिया खहयरपणिदि सखेज्ज तत्तिरिक्षीओ ।  
 सञ्चत्थ तओ थलयर जलयर वण जीइसा जेव ॥६९॥  
 तत्ती नपु सखहयर सखेज्जा थलयर जलयर नपुसा ।  
 चउरिदि तओ पणबितिइदियपज्जत्त किचि (च) हिया ॥७०॥  
 असखा पण किचि (च) हिय सेस कमसो अपज्ज उभयओ ।  
 पंचेदिय विसेसहिया चउतिवेइदिया तत्तो ॥७१॥  
 पज्जत्तबायरपत्तेयत्त असेज्ज इति निगोयाओ ।  
 पुढवी आऊ बाड बायर अपज्जत्ततेउ तओ ॥७२॥  
 बादरतरुनिगोया पुढवीजलवाउतेउ तो सुहुमा ।  
 तत्तो विसेसअहिया पुढवीजलपवणकाया उ ॥७३॥  
 सखेज्ज सुहुम पज्जत्त तेउ किचि (च) हिय भूजलसमीरा ।  
 तत्तो असंखगुणिया सुहुमनिगोया अपज्जत्ता ॥७४॥  
 सखेज्जगुणा तत्तो पज्जत्ताणतया तओउभवा ।  
 पडिवडियसमसिद्धा वण बायर जीव पज्जत्ता ॥७५॥

किञ्चि (च) हिया सामन्ता एए उ असंख वण अपज्जता ।  
 एषुः सामन्तेण विसेसअहिया अपज्जता ॥७६॥  
 सुहुमा वणा असंखा विसेसअहिया इमे उ सामन्ता ।  
 सुहुमवणा संखेज्जा पज्जता सब्द किञ्चि (च) हिया ॥७७॥  
 पज्जतापज्जता सुहुमा किञ्चि (च) हिया भव्वसिद्धीया ।  
 लसो बायर सुहुमा निगोद वणस्साइजिया तसो ॥७८॥  
 एगिदिया तिरिक्षा चउगइमिच्छा य अविरइजुया य ।  
 सक्षाया छउमथा सजोगसंसारि सब्बेवि ॥७९॥  
 उवसंतसंखगजोगी अपमलपमर्ता देससासाणा ।  
 मीसाक्षिरया चउ चउ जहुलर संखसंखगुणा ॥८०॥  
 उक्कोसपए संता मिच्छा लिसु गईसु होतसंखगुणा ।  
 तिरिए संशतगुणिया सन्निसु मणुएसु संखगुणा ॥८१॥  
 एगिदियसुहुमियरा सन्नियर पणिदिया सब्बितिचञ्ज ।  
 पज्जतापज्जता भेण चोइसगामा ॥८२॥  
 मिच्छा सासणमिरसा अविरय देसा पर्मत अपमता ।  
 अपुञ्ज बायर सुहुमोवसंतसीणा सजोगियरा ॥८३॥  
 तेरस दिवंधगा ते अट्ठविह बंधियव्वयं कम्मे ।  
 मूलुतरभेय ते साहिमो ते निसामेह ॥८४॥



## लोक की घनाकार समचतुरस्त-समीकरणविधि

गणितशास्त्र में कैसे भी लोक अथवा लंबे-चौड़े-ऊँचे पदार्थ का समचतुरस्त-समीकरण करने के लिए घनविधि का उपयोग किया जाता है। तबनुजार यहाँ लोक के घनाकार समचतुरस्त-समीकरण करने की प्रक्रिया प्रस्तुत करते हैं।

जैनसिद्धान्त में लोक का संस्थान कठि पर हाथों की रखे, पैरों की कंला कर खड़े मनुष्याकार के समान बताया है। जिसे नाभिस्थान रूप मध्य माम से नीचे के भाग को अधोलोक, कटिस्थानीय भाग को मध्यलोक और उपरे कृपर के भाग को ऊर्ध्वलोक इस प्रकार तीन भागों में विभाजित किया है।

इसकी ऊँचाई चौदह राजू है किन्तु विभिन्न रथराहों पर चौड़ाई में अन्तर है। जैसे नीचे आधार भूमिभाग में पूर्व पश्चिम सात राजू चौड़ा है। फिर ऊपर उत्तरोत्तर क्रमशः हीन-हीन होते मध्यलोक रूप स्थान में वह चौड़ाई मात्र एक राजू प्रमाण रह जाती है। तत्परतात् पुनः वृद्धि होते-होते शेष रहे सम्म राजू के मध्य में अर्धत्रै साड़े सीन राजू ऊपर, यानि कुल साड़े दस राजू ऊँचाई पर यह चौड़ाई पांच राजू और इसके बाद पुनः चौड़ाई हीन-हीन होते-होते सर्वोत्तम भाग में मात्र एक राजू प्रमाण है। मोटाई सात राजू प्रमाण है।

इस प्रकार के लोकसंस्थान के समीकरण करने की विधि यह है—

अधोलोक कृप जो सात राजू प्रमाण ऊँचाई वाला भाग है, जिसका नीचे विस्तार सात राजू एवं सात राजू की ऊँचाई पर मध्यलोक रूप स्थान पर एक राजू प्रमाण है, उसकी ऊँचाई सात राजू रखकर चौड़ाई के ठीक बीच से दो भाग किये जायें। तब एक राजू की चौड़ाई के  $\frac{1}{2}$ ,  $\frac{2}{3}$  राजू और सात राजू की चौड़ाई के  $\frac{3}{4}$ ,  $\frac{3}{5}$  राजू के दो विषम चतुर्थों कर्त्तव्य हो जायेंगे, किन्तु इन संदों की ऊँचाई सात राजू रहेगी। फिर इन दोनों संदों में से एक को उलटा करके

बराबर सटा कर रखे जाने पर इनके नीचे और ऊपर के भाग की चौड़ाई चार राष्ट्र और ऊँचाई सर्वेक्षण सात राष्ट्र प्रमाण होती ।

अब शेष रहे कठ्ठैलीक रूप खंड को लीजिये । जो नीचे एक राष्ट्र, साथे दस राष्ट्र की ऊँचाई पर पाँच राष्ट्र तथा चौदह राष्ट्र की ऊँचाई पर एक राष्ट्र चौड़ा है । इसमें से एक राष्ट्र प्रमाण चौड़े और सात राष्ट्र प्रमाण ऊँचे भाग की अलग करके कुपर से नीचे तक दो समानान्तर रेखाएँ खीचे जाने पर शेष भाग चार त्रिकोण रूप होता । ये प्रत्येक त्रिकोण ऊँचाई में साड़े तीन राष्ट्र और बाहर रूप चौड़ाई में दो राष्ट्र प्रमाण होती । फिर इन चारों भागों में एक, दो, तीन और चार इस प्रकार से कम संख्या डालकर एक को उलटा करके दो के साथ तथा तीन को उलटा करके चार के साथ आपस में बिला दिया जाये । जिसमें इनके दो खंड हो जायेंगे और प्रत्येक की ऊँचाई साड़े तीन राष्ट्र और चौड़ाई दो राष्ट्र होगी । फिर इन दोनों खंडों को भी ऊपर नीचे इस क्रम से रखा जाये कि ऊँचा सात राष्ट्र और ऊँचा दो राष्ट्र विस्तृत (पूर्ण) रूप से बन जाये ।

ऐसा करने पर लोक के कुल छेत्र के यह सीन खंड हुए—

१ अधोलीक साना सात राष्ट्र ऊँचा और चार राष्ट्र चौड़ा पढ़ला माघ ।

२ उधर्वलीक का सात राष्ट्र ऊँचा और एक राष्ट्र चौड़ा दूसरा भाग ।

३ चार त्रिकोणों के संयोग से निर्मित सात राष्ट्र ऊँचा और दो राष्ट्र चौड़ा तीसरा माघ ।

इन तीनों खंडों को चौड़ाई में परस्पर जोड़ने पर लोक (४-५-१-२-३-४) सात राष्ट्र चौड़ा होता किन्तु ऊँचे सात राष्ट्र होने से ऊँचाई सात राष्ट्र होती । जिससे लोक सात राष्ट्र लंबा चौड़ा समचतुष्कोण रूप हो जाता है और मोटाई सात राष्ट्र होने से बनाकारे लोक की ऊँचाई-चौड़ाई-मोटाई तीनों सात-सात राष्ट्र होती है । इसी को सीक का बनाकार समीकरण कहते हैं ।

अत्यधिक सम समस्तुतरम् रूप होता है और लोक वृत्त (गोल) है । अतः इस धन का युत्तिकरने के लिये उसे १६ से गुणा करके २२ से भाग देना चाहिए । बनाकार लोक की तीनों सात रूप संख्या का परस्पर गुणा करने से (७×७×७=३४३) तीन सौ सेहालीस राष्ट्र प्रमाण लीजे होता है । □

## दिग्द्वारसाहित्य में निर्देशित स्थावर उस जीवों की संख्या का प्रमाण।

संसारी जीवों के दो प्रकार हैं—अस और स्थावर। दीन्धिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीव उस और जिनके दिए स्पष्टनिष्ठ होती है, ऐसे जीव स्थावर कहलाते हैं। प्रकृत में पहले स्थावर जीवों की संख्या का प्रमाण लगता है।

पृथ्वीकाय, अपृकाय, तेजस्काय, वायुकाय और अनस्तिकाय ये पाँच प्रकार के जीव स्थावर हैं। पृथक्-पृथक् जिनकी संख्या इस प्रकार है—

शलाकाशय निष्ठापन की विधि से लोक का साड़े तीन बार गुणा करने से तेजस्कायिक जीवों का प्रमाण लिखता है तथा पृथ्वी, जल, वायुकायिक जीवों का उत्तरोत्तर तेजस्कायिक जीवों की अपेक्षा अधिक-अधिक प्रमाण है। इस अविकल्प के प्रतिभागहार का प्रमाण असंघपत्त लोक है।

उत्तम संक्षिप्त कथन का आलाय यह है—

लोक प्रमाण (जशक्षुपी) के घन का जितना प्रमाण है, उस के बराबर शलाका, विरलन, देय इस प्रकार तीन राशि स्थापन करना। विरलन राशि का विरलन कर (एक-एक विचोर कर) प्रत्येक एक के ऊपर उस लोक प्रमाण देय राशि का स्थापन करना और उन देय राशियों का परस्पर गुणा करना। और शलाका राशि में से एक कम करना। इनसे उत्पन्न महाराशि प्रमाण किर विरलन और देय ये दो राशि स्थापन करना तथा विरलन राशि का विरलन कर प्रत्येक

१. मोमटसार जीवकाङ्क्षा गा. २०४-२११ संवाद गा. ३७८-३७९।

एक के ऊपर देय राशि रखकर पूर्व की तरह परस्पर गुणा करना और शलाका राशि में से एक और कम करना। इसी प्रकार से एक-एक कम करते-करते जब समस्त शलाका राशि समाप्त हो जाए तब उस उत्तर भवाराशि प्रभाण फिर विरलन, देय, शलाका ये तीन राशि स्थापन करना और विरलन राशि का विरलन कर और उसके प्रत्येक एक के ऊपर देय राशि को स्थापित कर देय राशि का उक्त रीति से गुणा करते-करते तथा पूर्वोत्तर रीति से ही शलाका राशि में से एक-एक कम करते-करते जब दूसरी बार भी शलाका राशि समाप्त हो जाए तब उत्तर भवाराशि प्रभाण फिर तीसरी बार उक्त तीन राशि स्थापन करना और उक्त विश्लेषण के अनुसार ही विरलन राशि का विरलन कर और देय राशि का परस्पर गुणा तथा शलाका राशि में से एक-एक कम करना। इस प्रकार शलाकात्व निष्ठापन कर चौथी बार की स्थापित भवाराशलाका राशि में से पहली, दूसरी, तीसरी शलाका राशि का प्रभाण घटाने पर जो शेष है, उतनी बार उक्त कम से ही विरलन राशि का विरलन कर और देय राशि का परस्पर गुणा तथा शेष भवाराशलाका राशि में से एक-एक कम करना। इस पद्धति से साढ़े तीन बार लोक का गुणा करने पर अन्त में जो भवाराशि उत्पन्न हो, उसना ही तेजस्कार्यिक जीवों का प्रभाण है।

इस तेजस्कार्यिक जीवराशि में असंख्यात लोक का भाग देने से जो लब्ध आये, उस एक भाग को तेजस्कार्यिक जीवराशि में मिलाने पर पृथ्वीकार्यिक जीवों का प्रभाण निकलता है और पृथ्वीकार्यिक जीवों के प्रभाण में असंख्यात लोक का भाग देने पर जो लब्ध आये उस भाग को पृथ्वीकार्यिक जीवों के प्रभाण में मिलाने पर जलकार्य के जीवों का प्रभाण होता है। जलकार्य के जीवों के प्रभाण में असंख्यात लोक का भाग देने से जो लब्ध आये, उस एक भाग को जलकार्य की जीवराशि में मिलाने पर वायुकार्यिक जीवों का प्रभाण निकलता है।

वनस्पतिकार्यिक जीव दो प्रकार के हैं—प्रत्येक और साधारण। इनमें से अप्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकार्यिक जीव असंख्यात सोक प्रभाण है और इससे भी असंख्यात लोक गुणा प्रतिष्ठित प्रत्येक वनस्पतिकार्यिक जीवों का प्रभाण है तथा सम्पूर्ण संसारी जीवराशि में से वस, पृथिव्यादि अतुष्क (पृथ्वी, अप,

तेज, वायु), प्रत्येक वनस्पतिकाय का प्रमाण घटाने से जो शेष रहे उतना ही साधारण जीवों का प्रमाण है।

अपनी-अपनी राजि का असंख्यातवृ भाग बादर जीवों का और ऐसे सूक्ष्म जीवों का प्रमाण है। अर्थात् पृथ्वीकायिक आदि जीवों की अपनी-अपनी राजि में असंख्यात लोक का भाग देने से जो लक्ष्य आये वह एक भाग बादर और ऐसे बहुभाग सूक्ष्म जीवों का प्रमाण है।

सूक्ष्म जीवों में अपनी-अपनी राजि के संख्यात भागों में से एक भाग प्रमाण अपर्याप्तक और बहुभाग प्रमाण पर्याप्तक हैं।

पलथ के असंख्यातवृ भाग से भक्त प्रतरांगुल का जगत्पत्र में भाग देने से जो लक्ष्य आये, उतना बादर पर्याप्त जलकायिक जीवों का प्रमाण है। इसमें आवली के असंख्यातवृ भाग का भाग देने से जो लक्ष्य रहे उतना बादर पर्याप्त पृथ्वीकायिक जीवों का प्रमाण है। इसमें भी आवली के असंख्यातवृ भाग का भाग देने से जो लक्ष्य रहे उतना सप्रतिष्ठित प्रत्येक जीवराजि का प्रमाण होता है तथा पूर्व की तरह उसमें भी आवली के असंख्यातवृ भाग का भाग देने से जो लक्ष्य रहे उतना अप्रतिष्ठित प्रत्येक पर्याप्त जीवराजि का प्रमाण है।

आवलिका के असंख्यातवृ भागों में से एक भाग प्रमाण पर्याप्त लेजस्कायिक जीवों का प्रमाण है और लोक के संख्यात भागों में से एक भाग प्रमाण बादर पर्याप्त वायुकायिक जीवों का प्रमाण है। अपनी-अपनी सम्पूर्ण राजि में से पर्याप्तकों का प्रमाण घटाने पर जो शेष रहे, वही अपर्याप्तकों का प्रमाण है।

साधारण बादर वनस्पतिकायिक जीवों का जो प्रमाण बताया है, उसके असंख्यात भागों में से एक भाग प्रमाण पर्याप्त और बहुभाग प्रमाण अपर्याप्त हैं।

इस प्रकार से दिगम्बर साहित्य में स्थावर जीवों की संख्या के प्रमाण का गिरण किया है। स्थावर जीवों के सिवाय शेष जीव वह हैं। उनकी संख्या का प्रमाण इस प्रकार बताया है—

आवली के असंख्यातवृ भाग से भक्त प्रतरांगुल का भाग जगत्पत्र में देने

से जो लब्ध आये उतना ही सामान्य असराचि का प्रमाण है और संख्यात्वें भाग से भक्त प्रतिरोधगुल का भाग जगत्प्रतिर में देने से जो लब्ध आये उतना उतना पर्याप्त वस जीवों का प्रमाण है तथा सामान्य असराचि में से पर्याप्तकों का प्रमाण घटाने पर शेष अपर्याप्त प्रसों का प्रमाण होता है।

सामान्य से तो वस जीवों की संख्या का प्रमाण पूर्वोक्त प्रकार से है, परन्तु पूर्व-पूर्व द्वीन्द्रियादिक की अपेक्षा उत्तरीतर द्वीन्द्रियादिक का प्रमाण क्रम-क्रम से हीन-हीन है। जिसका आशय यह हुआ कि असराचि में आवली के असंख्यात्वें भाग का भाग देकर लब्ध बहुभाग के समान चार भाग करता और एक-एक भाग को द्वीन्द्रियादि ज्ञारों में विभक्त कर शेष एक भाग में किर से आवली के असंख्यात्वें भाग का भाग दें और लब्ध बहुभाग को बहुत संख्या वाले द्वीन्द्रिय जीवों को दें। शेष एक भाग में पुक्त आवली के असंख्यात्वें भाग का भाग देकर एक भाग शेष रख बहुभाग द्वीन्द्रिय जीवों को दें। पुक्त शेष एक भाग में आवली के असंख्यात्वें भाग का भाग देकर बहुभाग चतुरिन्द्रिय जीवों को और शेष रहा एक भाग चंचेन्द्रिय जीवों को दें। इसका जो जोड़ हो उतना-उतना द्वीन्द्रिय आदि जीवों का पृथक्-पृथक् संख्या प्रमाण जानना चाहिये। □

## ३

# लवद्वक एवं लक्ष्मीपद्म देवा त्रिलोकसिंहायक लोमटसार जीवकांडगत पाठ

**नरकगति**

सामण्णा पेरद्वया, अष्टअंगुलविदिथमूलगुणसेही ।  
विदियादि वारदसङ्क, छत्तिदुषिजापदहिदा सेही ॥१५३॥  
हेन्दुभंधुषुष्वीर्ण, रसिविहीयो तु सव्यरासी तु ।  
पद्माविभिमि रासी पेरद्वयार्द तु खिद्दिती ॥१५४॥

**देवगति**

तिणिसयजोयथाण, वेसदछप्यण्णांमुलाणं च ।  
कदिहुदपदर्द बैतर, जोइसिथाणं च परिमाणं ॥१६०॥  
घणअंगुलपदमपर्द, तदियपदं देहिसंगुणं कमसो ।  
भवणे सोहमदुग्म, देवाणं होडि परिमाणं ॥१६१॥  
तस्मो एगारणवसगपणचउणियमूलमाजिदा सेही ।  
पल्लासखेजदिमा पल्लये बागदादिमुरा ॥१६२॥  
तिगुणा सत्तगुणा वा, सच्चक्षुद्गा भाजुसीयमाणासो ।  
सामण्णदेवरासी जोइसिथादो विसेसाहिया ॥१६३॥

## दिशाप्रेक्षा नारकों का अल्पवहूत्तम्

१. दिसाणुवाएर्ण सब्बत्थोवा नेरहया पुरत्थिम-पञ्चत्थिम-उत्तरेण, दाहिणेण असंखेजजगुणा ।
२. दिसाणुवाएर्ण सब्बत्थोवा रथणप्यभापुढ़विनेरहया पुरत्थिम-पञ्चत्थिम-उत्तरेण, दाहिणेण असंखेजजगुणा ।
३. दिसाणुवाएर्ण सब्बत्थोवा सप्तकावलभापुढ़विनेरहया पुरत्थिम-पञ्चत्थिम-उत्तरेण, दाहिणेण असंखेजजगुणा ।
४. दिसाणुवाएर्ण सब्बत्थोवा वालुप्यभापुढ़विनेरहया पुरत्थिम-पञ्चत्थिम-उत्तरेण, दाहिणेण असंखेजजगुणा ।
५. दिसाणुवाएर्ण सब्बत्थोवा पंक्तप्यभापुढ़विनेरहया पुरत्थिम-पञ्चत्थिम-उत्तरेण, दाहिणेण असंखेजजगुणा ।
६. दिसाणुवाएर्ण सब्बत्थोवा शुभप्यभापुढ़विनेरहया पुरत्थिम-पञ्चत्थिम-उत्तरेण, दाहिणेण असंखेजजगुणा ।
७. दिसाणुवाएर्ण सब्बत्थोवा तमप्यभापुढ़विनेरहया पुरत्थिम-पञ्चत्थिम-उत्तरेण, दाहिणेण असंखेजजगुणा ।
८. दिसाणुवाएर्ण सब्बत्थोवा अहेससमापुढ़विनेरहयाहितो छटीए तमाए गुढबीए नेरहया पुरत्थिम-पञ्चत्थिम-उत्तरेण असंखेजजगुणा, दाहिणेण असंखेजजगुणा ।
९. दाहिणिलेहितो तमापुढ़विणेरहयाहिसो पंचमाए धूमप्यभाए गुढबीए नेरहया पुरत्थिम-पञ्चत्थिम-उत्तरेण असंखेजजगुणा, दाहिणेण असंखेजजगुणा ।
१०. दाहिणिलेहितो तमापुढ़विणेरहयाहिसो चतुर्थीए पंक्तप्यभाए गुढबीए नेरहया पुरत्थिम-पञ्चत्थिम-उत्तरेण असंखेजजगुणा, दाहिणेण असंखेजजगुणा ।
११. दाहिणिलेहिसो धूमप्यभापुढ़विनेरहयाहितो चतुर्थीए पंक्तप्यभाए गुढबीए नेरहया पुरत्थिम-पञ्चत्थिम-उत्तरेण असंखेजजगुणा, दाहिणेण असंखेजजगुणा ।

१२. दाहिणिल्लेहितो वक्त्यभापुढ़िवनेरहएहितो तद्याए वालुक्यभाए  
पुढ़ीए नेरइया पुरत्यम-पञ्चत्यम-उत्तरेण असंख्यगुणा, दाहिणेण  
असंख्यजगुणा ।

१३. दाहिणिल्लेहितो वालुक्यभापुढ़िवनेरहएहितो दुइयाए सक्करण्यभाए  
पुढ़ीए णेरइया पुरत्यम-पञ्चत्यम-उत्तरेण असंख्यजगुणा, दाहिणेण  
असंख्यजगुणा ।

१४. दाहिणिल्लेहितो सक्करण्यभापुढ़िवनेरहएहितो इमीसे रथण्यभाए  
पुढ़ीए नेरइया पुरत्यम-पञ्चत्यम-उत्तरेण असंख्यजगुणा, दाहिणेण  
असंख्यजगुणा । □

—प्रशापना सूत्र  
(कहुदक्षाव्यताह पद)

## प्रजापिना सूक्तगत भहादुर्देव का पाठ

अहं भंते । सत्यजीवस्य बहुद्वयं वत्ससामि—

१. सत्यवत्तिवा गः सववकंतिया मणुस्सा ।
२. मणुस्सीओ संखेऽजगुणाभो ।
३. बादरसेऽवकाइया पञ्जलया असंखेऽजगुणा ।
४. अणुस्त्रोववाइया देवा असंखेऽजगुणा ।
५. उवस्त्रिमगेषेऽजगुणा देवा संखेऽजगुणा ।
६. मञ्जिनमेवेऽजगुणा देवा संखेऽजगुणा ।
७. हेट्टिमगेषेऽजगुणा देवा संखेऽजगुणा ।
८. अचक्षुते कर्णे देवा संखेऽजगुणा ।
९. आरणे कर्णे देवा संखेऽजगुणा ।
१०. पाण्यए कर्णे देवा संखेऽजगुणा ।
११. आण्यए कर्णे देवा संखेऽजगुणा ।
१२. अधेसत्तमाए पुढबीए नेरइया असंखेऽजगुणा ।
१३. छट्ठीए तमाए पुढबीए नेरइया असंखेऽजगुणा ।
१४. सहस्रारे कर्णे देवा असंखेऽजगुणा ।
१५. महासुवके कर्णे देवा असंखेऽजगुणा ।
१६. पंचमाए पूमप्यभाए पुढबीए नेरइया असंखेऽजगुणा ।
१७. लंताए कर्णे देवा असंखेऽजगुणा ।
१८. चउठीए पंकज्यभाए पुढबीए नेरइया असंखेऽजगुणा ।
१९. बंभलोए कर्णे देवा असंखेऽजगुणा ।
२०. तच्चाए वालुयप्यभाए पुढबीए नेरइया असंखेऽजगुणा ।
२१. भाहिदकर्णे देवा असंखेऽजगुणा ।

२३. सणांकुमारे कापे देवा असंखेज्जगुणः ।  
 २४. दीक्षाए सक्तरथभाए पुढीरै नेरइया असंखेज्जगुणा ।  
 २५. सम्मुक्तिरक्षलुप्ता असंखेज्जगुणः । ॥१२॥ १२११२  
 २६. इसाणे कापे देवा असंखेज्जगुणा ।  
 २७. हृसाणे कापे देवीओ संखेज्जगुणाओ ।  
 २८. सोहम्मे कापे देवा संखेज्जगुणा ।  
 २९. सोहम्मे कापे देवीओ संखेज्जगुणाओ ।  
 ३०. भवणवासी देवा असंखेज्जगुणा ।  
 ३१. इमीसे रतनप्पभाए पुढीरै नेरइया असंखेज्जगुणा ।  
 ३२. खह्यरप्पचिदियतिरिक्षजोणिया पुरिसा असंखेज्जगुणा ।  
 ३३. खह्यरप्पचेदियतिरिक्षजोणियीओ संखेज्जगुणाओ ।  
 ३४. खलयरप्पचेदियतिरिक्षजोणिया पुरिसा संखेज्जगुणा ।  
 ३५. खलयरप्पचेदियतिरिक्षजोणियीओ संखेज्जगुणाओ ।  
 ३६. खलयरप्पचेदियतिरिक्षजोणिया पुरिसा संखेज्जगुणा ।  
 ३७. खलयरप्पचेदियतिरिक्षजोणियीओ संखेज्जगुणा ।  
 ३८. खाणमंतरा देवा संखेज्जगुणा ।  
 ३९. खाणमंतरीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।  
 ४०. जोइसिया देवा संखेज्जगुणा ।  
 ४१. जोइसियीओ देवीओ संखेज्जगुणाओ ।  
 ४२. खह्यरप्पचेदियतिरिक्षजोणिया षषु॑सया संखेज्जगुणा ।  
 ४३. खलयरप्पचेदियतिरिक्षजोणिया षषु॑सया संखेज्जगुणा ।  
 ४४. खलयरप्पचेदियतिरिक्षजोणिया षषु॑सया संखेज्जगुणा ।  
 ४५. खउरिदिया फज्जत्तया संखेज्जगुणा ।  
 ४६. पंचेदिया पञ्चतया विसेसाहिया ।  
 ४७. बेइदिया पञ्चतया विसेसाहिया ।  
 ४८. सेइदिया पञ्चतया विसेसाहिया ।  
 ४९. पंचिदिया अपञ्चतया असंखेज्जगुणः ।  
 ५०. खउरिदिया अपञ्चतया विसेसाहिया ।

५१. लेहंदिया अपञ्जतया विसेसाहिया ।  
 ५२. बेहंदिया अपञ्जतया विसेसाहिया ।  
 ५३. पत्तेयसरीरबादरथभाष्टहकाइया पञ्जस्तया असंखेजजगुणा ।  
 ५४. बादरणिगोदा पञ्जस्तगा असंखेजजगुणा ।  
 ५५. बादरपुढविकाइया पञ्जतया असंखेजजगुणा ।  
 ५६. बादरआउकाइया पञ्जतया असंखेजजगुणा ।  
 ५७. बादरबाउकाइया पञ्जतया असंखेजजगुणा ।  
 ५८. बादरतेउकाइया अपञ्जस्तगा असंखेजजगुणा ।  
 ५९. यस्तेयसरीरबादरथभाष्टहकाइया अपञ्जतया असंखेजजगुणा ।  
 ६०. बादरणिगोदा अपञ्जस्तया असंखेजजगुणा ।  
 ६१. बादरपुढविकाइया अपञ्जतया असंखेजजगुणा ।  
 ६२. बादरआउकाइया अपञ्जतया असंखेजजगुणा ।  
 ६३. बादरबाउकाइया अपञ्जतया असंखेजजगुणा ।  
 ६४. सुहृमसेउकाइया अपञ्जतया असंखेजजगुणा ।  
 ६५. सुहृमपुढविकाइया अपञ्जतया विसेसाहिया ।  
 ६६. सुहृमआउकाइया अपञ्जतया विसेसाहिया ।  
 ६७. सुहृमबाउकाइया अपञ्जतया विसेसाहिया ।  
 ६८. सुहृमसेउकाइया पञ्जस्तगा संखेजजगुणा ।  
 ६९. सुहृमपुढविकाइया पञ्जस्तया विसेसाहिया ।  
 ७०. सुहृमआउकाइया पञ्जतया विसेसाहिया ।  
 ७१. सुहृमबाउकाइया पञ्जस्तया विसेसाहिया ।  
 ७२. सुहृमणिगोदा अपञ्जस्तया असंखेजजगुणा ।  
 ७३. सुहृमणिगोदा पञ्जतया संखेजजगुणा ।  
 ७४. अभवसिद्धिया अर्णतगुणा ।  
 ७५. परिवडिलसम्मता अर्णतगुणा ।  
 ७६. सिद्धा अर्णतगुणा ।  
 ७७. बादरबणाहस्तिकाइया पञ्जस्तया अर्णतगुणा ।  
 ७८. बादरपञ्जतया विसेसाहिया ।

७६. बादरवणस्सद्वकाहिया अपजज्ञतया अस्थेजज्ञुणा ।

८०. बादरअपजज्ञगा विसेसाहिया ।

८१. बादरा विसेसाहिया ।

८२. सुहुमवणस्सद्वकाहिया अपजज्ञतया अस्थेजज्ञुणा ।

८३. सुहुमा अपजज्ञतया विसेसाहिया ।

८४. सुहुमवणस्सद्वकाहिया पञ्जज्ञतया स्थेजज्ञुणा ।

८५. सुहुमपञ्जज्ञतया विसेसाहिया ।

८६. सुहुमा विसेसाहिया ।

८७. न रसिद्विया विसेसाहिया ।

८८. मिसोदजीवा विसेसाहिया ।

८९. वणपक्तिजीवा विसेसाहिया ।

९०. एगिदिया विसेसाहिया ।

९१. तिरिक्खजीगिया विसेसाहिया ।

९२. मिष्ठदिट्ठी विसेसाहिया ।

९३. अविरता विसेसाहिया ।

९४. सकलाई विसेसाहिया ।

९५. छजसत्या विसेसाहिया ।

९६. सजोगी विसेसाहिया ।

९७. संसारत्या विसेसाहिया ।

९८. सब्बजीवा विसेसाहिया ।



## ६

### उत्तरवेदिक्यशरीरी संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिव्यंब-संल्या परिमाण- आपक प्रशापनासूत्रगत पाठ

पञ्चेन्द्रियतिरिक्तजोणियाण के वद्यया वेऽविषयसरीरा पन्नता ?

गोयमा ! असंखेज्जा, कालओ असंखेज्जाहि उसपिणी ओसपिणीहि  
अवहीरन्ति । खेतओ पथरस्स असंखेज्जाइभागे असंखेज्जाओ सेढीओ,  
तासिण सेढीण विक्ष्मभसूई अंगुलपठमवगमूलस्स असंखेज्जाइ भागो ।

—प्रशापनासूत्र शशीरपद

## ७

### मनुष्यों की उत्कृष्ट संख्याविषयक अनुपोगद्वारचूणि का पाठ

‘उक्कोसपए जे मणुस्सा हवंति, ते एककमि मणुयरुवे पक्षिवत्ते  
समाणे लेहि मणुस्सेहि चेढी अवहीरइ, तीसे य सेढीए कालखेत्तेहि अव-  
हारो ममिगज्जाइ । कालओ ताव असंखेज्जाहि उसपीणीहि ओसपीणीहि,  
खेतओ अंगुलपठमवगमूलं तद्यवगमूलपडुप्पन्नं, कि भणिय होइ ? तीसे  
सेढीए अंगुलायए खेतो जो य पएसरासी, तस्स जं पढ़सं वगमूलपएस-  
रासिमाण, तं तद्यवगगमूलपएसरासिणा पडुप्पाइज्जाइ, पडुप्पाइए समाणे  
जो पएसरासी हवड, एवईएहि खंडेहि अवहीरमाणी अवहीरमाणी जाव  
निद्वाइ, ताव मणुस्सावि अवहीरमाणा निट्ठंति । आह—कहमेगसेढी एहह-  
मेत्तेहि खंडेहि अवहीरमाणी अवहीरमाणी असंखेज्जा उसपिणीओस-  
पिणीहि अवहीरइ ? आयरिओ आह—खेतस्स सुहुमतणओ । सुत्तेविमं  
भणिय—

“सुहमो य होइ कालो तत्तो सुहमयरं हृष्ट खेतं ।  
अंगुलसेहीमेते उत्सप्तिणीधो असखेज्ञा ॥”

—उत्कृष्ट पद में जो मनुष्य है, उनमें एक (मनुष्य) रूप का प्रक्षेप करने पर उन मनुष्यों के द्वारा संपूर्ण सूचिधेणि का अपहार होता है। उस सूचिधेणि का काल और शेष द्वारा अपहार का विचार इस प्रकार है—

काल से असंख्याती उत्सप्तिणी-अवसरिणी के समय प्रमाण है और शेष-पैशा सूचिधेणि के अंगुल प्रमाण शेष में वर्तमान आकाशप्रदेशों के प्रथम वर्गमूल को तीसरे वर्गमूल द्वारा गुणा करता चाहिये। जिसका अर्थ यह है—

उस थेणि के अंगुल प्रमाण शेषमय प्रदेशराशि के प्रथम वर्गमूल में प्राप्त प्रदेशराशि को सूतीय वर्गमूलमय प्रदेशराशि से गुणाकार करने पर जो प्रदेशराशि हो, ऐसे-ऐसे एक-एक छंड काल (स्त्रीय) सुहमयी उठोइ (एक-एक) सुहमय का अपहार किया जाये, यानि ऐसे-ऐसे सूचिधेणि के एक-एक छंड को एक-एक सनुष्य ग्रहण करे तब यदि एक मनुष्य अधिक हो तो संपूर्ण थेणि को ग्रहण कर सकता है। सारंग यह हुआ कि कालहः असंख्यात उत्सप्तिणी, अवसरिणी के जितने समय है, उसने उत्कृष्टपद में मनुष्य है और शेषसः अंगुल प्रमाण शेष के पहले मूल को तीसरे मूल के साथ गुणा करने पर प्राप्त आकाशप्रदेश प्रमाण सूचिधेणि के जितने छंड हों, उनमें से एक न्यून करने पर उत्कृष्ट से मनुष्यों की संख्या का प्रमाण होता है।

प्रवत—ऐसे-ऐसे खंडों द्वारा एक थेणि का अपहार करते असंख्यात उत्सप्तिणी-अवसरिणी काल कैसे होता है ?

उत्तर—शेष के अत्यन्त सुधप होने से उतना काल होता है। जैसा कि कहा है—

सुहमो य होइ कालो तत्तो सुहमयरं हृष्ट खेतं ।  
अंगुलसेहीमेते उत्सप्तिणीधो असखेज्ञा ॥

अर्थात् काल सूक्ष्म है, लेकिन उससे भी सूक्ष्मतर आकाशप्रदेश रूप क्षेत्र है। जिसके एक अंगुल प्रमाण क्षेत्र में इतने अधिक आकाशप्रदेश है कि उनमें से प्रतिसमय एक-एक आकाशप्रदेश जिया जाये तो असंख्यत उत्सपिणी-अवस्पिणी काल बीत जाता है। इसीलिये उत्कृष्ट पद में मनुष्यों का प्रमाण काल से असंख्यत उत्सपिणी-अवस्पिणी के समय प्रमाण कहा है और क्षेत्रापेक्षा सूचिश्वेणि के एक अंगुल प्रमाण क्षेत्र के गहरे बर्मूल को क्षीररे बर्मूल ढारा गुण करने पर प्राप्त प्रदेश प्रमाण वाले सूचिश्वेणि के जितने छंड, उनमें से एक कम करने पर उतने उत्कृष्ट पद में मनुष्य दबलावे हैं।



## दिग्मधरसाहित्यगत पुद्गलपरावर्तनों की व्याख्या

कम्बिपाल के बाण यह संसारी जीव संसरण-परिवर्तन कर रहा है। संसारस्थ जीव एक शरीर को छोड़कर दूसरे नए शरीर को ग्रहण करता है। सताश्चात् उस शरीर को भी छोड़कर नया शरीर ग्रहण करता है। इस प्रकार का संसरण जीव तथा तक करता रहता है, जब तक संसरण के कारणभूत कभी का संयोग जीव/आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है। अहले शरीर को छोड़कर दूसरे नए शरीर को ग्रहण करने के लिए जैनसिद्धान्त में पुद्गलपरावर्तन शब्द का प्रयोग किया है।

जैन वाङ्मय में प्रत्येक विषय की चर्चा द्रव्य, धोत्र, काल और भाव, इन चार अपेक्षाओं से होती है। इन अपेक्षाओं के बिना उस विषय की चर्चा पूर्ण नहीं समझी जाती। अतएक इवेतामधर साहित्य में परावर्तन का वर्णन द्रव्य, धोत्र, काल और भाव की अपेक्षा से किया है।

द्रव्य से यही पुद्गल द्रव्य का ग्रहण जानना चाहिए। क्योंकि प्रत्येक परावर्तन के साथ पुद्गल दब्द संलग्न है और उसके ही द्रव्य पुद्गलपरावर्तन आदि आर भेद बताए गए हैं। जीव के परावर्तन, संसार-परिभ्रमण का कारण एक तरह से पुद्गल द्रव्य ही है, संसारस्थ जीव उसके बिना रह नहीं सकता। उस पुद्गल का सबसे छोटा अणु-परमाणु ही यहीं द्रव्य पद से ग्रहण करता चाहिए। उस परमाणु के अवस्थान के स्थान को धोत्र और पुद्गल का एक परमाणु आकाश के एक प्रदेश से उसी के सभीपक्षी दूसरे प्रदेश में जितने समय में पहुंचता है, उसे समय कहते हैं। भाव से अनुभागवर्ध के कारणभूत जीव के कार्यालयिक भाव जानना चाहिए। क्योंकि ये कार्यालयिक परिणाम ही जीव को संसार में परिभ्रमण कराने के कारण हैं। अतएव इन्हीं द्रव्य, धोत्र, काल और भाव के परावर्तनों को लेकर इवेतामधर साहित्य में चाहर परावर्तनों की कल्पना की गई है।

इनको काल-विभाग का बोधक मानने का कारण यह है कि संसारी जीव अनादि काल से इस संसार में परिव्रमण करते रहे हैं। अब उनका एक और कर्म परमाणु ऐसा थोड़ा नहीं है कि जिसे इसने न भोगा हो, आकाश का एक भी प्रदेश और उत्तराधिकी तथा अवसरिणी काल का ऐसा एक भी समय वाली नहीं रहा। एवं ऐसा एक भी क्रायस्थान नहीं, जिसमें वह भरा न हो। प्रत्युत उन परमाणु, प्रदेश, समय और क्रायस्थानों को यह जीव अनेक बार अपना छुका है। उसी को इष्ट में रखकर इस द्वय पुद्गलपरावर्तन आदि नामों को काल-बोधक कहते हैं।

विभवर साहित्य में भी संसारभ्रमण के इस अतीव सुदीर्घकाल का बोध कराने के लिए पुद्गलपरावर्तनों का वर्णन किया है। वहाँ ये परावर्तन पंच-परिवर्तन के नाम से प्रसिद्ध हैं। अवेताम्बर साहित्य में बताए गए चारों परिवर्तनों के साथ एक भवयपरिवर्तन का नाम विलेष है।

इनका रूपरूप निम्न प्रकार है—

द्वयपरिवर्तन के दो भेद हैं—नोकर्मद्वयपरिवर्तन और कर्मद्वय-परिवर्तन।

**नोकर्मद्वयपरिवर्तन**—किसी एक जीव ने तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के द्वय पुद्गलों को ग्रहण किया, अनन्त वे पुद्गल स्तिरण या रूप स्वरूप तथा वर्ण, रंग आदि के द्वारा जिस तीव्र, भव्य और सद्यम भाव से ग्रहण किये थे, उस रूप में जबस्थित रह कर द्वितीयादि समयों में निर्जीण हो गए, तत्पश्चात् अगृहीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा, मिथ्ये परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा और द्वीप में गुटीत परमाणुओं को अनन्त बार ग्रहण करके छोड़ा, तपश्चात् जब उसी जीव के सर्वप्रथम ग्रहण किये गए वे ही परमाणु उसी प्रकार से नोकर्मभाव को प्राप्त होते हैं, तब वह सब मिलकर एक नोकर्मद्वयपरिवर्तन कहलाता है।

**कर्मद्वयपरिवर्तन**—एक जीव ने आठ प्रकार के कर्म रूप से जिन पुद्गलों को ग्रहण किया, वे समयाधिक एक आदली बाल के बाद द्वितीयादि समयों में छोड़ गए। पश्चात् जो क्रम नोकर्मद्वयपरिवर्तन में वर्ताया है, उसी

क्रम से वे ही पुद्गल उसी प्रकार से उस जीव को जब कर्मभाव को प्राप्त होते हैं, तब वह सब मिलकर एक कर्मद्रव्यपरिवर्तन होता है :

सोकर्मद्रव्यपरिवर्तन और कर्मद्रव्यपरिवर्तन मिल कर द्रव्यपरिवर्तन या पुद्गलपरिवर्तन कहलाता है और दोनों में से एक को अर्धपुद्गलपरिवर्तन कहते हैं ।

**क्षेत्रपरिवर्तन**—सबसे ज्याद्य अवश्यहना का आरक सूक्ष्म नियोगिया जीव लीक के बाठ मध्य प्रदेशों को अपने शरीर के मध्य प्रदेश बनाकर उत्पन्न हुआ और मर गया । इस प्रकार बनायुक्त के असंख्यातमें माया के क्षेत्र में जितने दूसरे होते हैं, उसनी लार लाली अवश्यहना द्वे खेड़े वही उत्पन्न हुआ और मर गया । इसके पश्चात् एक-एक प्रदेश बढ़ाते-बढ़ाते जब समस्त सोकाकाश के प्रदेशों को अपना अन्म-क्षेत्र बना लेता है तो उसने काल को एक क्षेत्रपरिवर्तन कहते हैं ।

**कालपरिवर्तन**—कोई जीव उत्सर्पिणी काल के प्रथम समय में उत्पन्न हुआ और आयु के समाप्त होने पर मर गया । पुनः वही जीव दूसरी उत्सर्पिणी के दूसरे समय में उत्पन्न हुआ और अपनी आयु के समाप्त होने पर मर गया । पुनः वही तीसरी उत्सर्पिणी के तीसरे समय में उत्पन्न हुआ और मर गया । इस प्रकार से उसने क्रम से उत्सर्पिणी समाप्त की और इसी प्रकार अवसर्पिणी भी । इस प्रकार जितने समय में निरन्तरता से उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी काल के समस्त समयों को अपने अन्म और मरण से स्फुट कर लेता है, उसने समय का नाम कालपरिवर्तन है ।

**भवपरिवर्तन**—मरकाति में सबसे ज्याद्य आयु दस हजार वर्ष है । एक जीव उस आयु से वही उत्पन्न हुआ और धूम-फिर कर पुनः उसी आयु से वही उत्पन्न हुआ, इस प्रकार दस हजार वर्ष के जितने समय है, उसनी बार वही उत्पन्न हुआ और मर गया । पुनः आयु में एक-एक समय बढ़ा कर नरक की तीतीस सामर आयु समाप्त की । तीव्रनस्तर नरक से निकल कर अन्तमुहूर्त आयु के साथ तिर्यचाति में उत्पन्न हुआ और पूर्वोक्त क्रम से अन्तमुहूर्त में जितने समय होते हैं, उसनी बार अन्तमुहूर्त आयु लेकर उत्पन्न हुआ । इसके बाद पूर्वोक्त प्रकार से एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते तिर्यचाति की उत्कृष्ट आयु तीम

पत्त्य पूरी की। तिव्यंचरिति की ही तरह मनुष्यगति में भी अनुभूतूर्ती से लेकर तीन पहली की आयु समाप्ति की, फिर नरकगति की तरह देवगति का काल पूरा किया, किन्तु देवगति में इसली डिग्रेशन है कि यद्वै इकतीस सागर आयु पूरी करने पर ही अवपरिवर्तन पूरा हो जाता है। यद्यों कि ३१ सागर से अधिक आयु बाले देव नियम से सम्बर्थित होते हैं और वे एक या दो मनुष्य अवधारण करके मोक्ष जाते हैं।

इस प्रकार चारों गति की आयु की स्त्रोगति में जिसना समय लगता है उसे अवपरिवर्तन कहते हैं।

**मात्रपरिवर्तन**—इस जीव ने विष्वात्म के वश प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश वंश के कारणभूत जिसने प्रकार के परिणाम पा भाव है, उन सबका अनुभव करते हुए मात्रपरिवर्तन रूप संसार में अनेक बार स्वरूप किया है। जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

कभी के एक-एक स्थितिवंश के कारण असंज्ञात लोक प्रमाण कथाया अवधारणस्थान है और एक-एक कथायस्थान के कारण असंज्ञात लोक प्रमाण अनुभागाव्यवसायस्थान हैं। किसी पञ्चेन्द्रिय संभी पर्याप्तक विष्वात्मिति जीव ने ज्ञानावरणकर्त्ता का अस्तःकोटि-कोटि सागर प्रमाण अवधारण स्थितिवंश किया। उसके उस समय सबसे अधन्य कथायस्थान, सबसे अधन्य अनुभागस्थान उथा सबसे अधन्य योगस्थान का। दूसरे समय में वही स्थितिवंश, कही कथायस्थान और कही अनुभागस्थान रहा किन्तु योगस्थान दूसरे नम्बर का हो गया, इस प्रकार उसी स्थितिवंश, कथायस्थान और अनुभागस्थान के साथ व्येणी के असंज्ञातव्य भागप्रमाण समस्त योगस्थानों को पूर्ण किया। योगस्थानों की समाप्ति के बाद स्थितिवंश और कथायस्थान तो वही रहा किन्तु अनुभाग-स्थान दूसरा बदल गया। उसके भी पूर्वकृत् समस्त योगस्थान पूर्ण किये। इस प्रकार अनुभागाव्यवसायस्थानों के समाप्त होने पर उसी स्थितिवंश के साथ दूसरा कथायस्थान हुआ, उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान पहले की तरह समाप्त किये। पुनः तीसरा कथायस्थान हुआ, उसके भी अनुभागस्थान और योगस्थान पूर्वकृत् समाप्त किये, इस प्रकार समस्त कथायस्थानों के समाप्त हो जाने पर इस जीव ने एक समय अधिक अस्तःकोटिकोटि सागर प्रमाण

स्थितिबंध किया, उसके सीधे कथास्थान, अनुस्थानस्थान और वोदस्थान पूर्ववत् पूर्ण किये। इस प्रकार एक-एक समय बढ़ाते-बढ़ाते आनादरणकर्म की तीस कोडाकोडी सागर प्रभाण उल्लङ्घ स्थिति पूर्ण की।

इस तरह जब वह जीव सभी भूल और उत्तर कर्म-प्रकृतियों की स्थिति पूरी कर लेता है, तब उसने काल की भावपरिवर्तन कहते हैं।

इन सभी परिवर्तनों में कम का ध्यान रखना चाहिए, अकम से हीने वाली किया की गणना नहीं की जाती है।

वंचपरिवर्तनों में अल्पबहुत्त्व—असीतकाल में एक जीव के सबसे कम भावपरिवर्तन के बारे हैं, भावपरिवर्तनों के बारे से भवपरिवर्तन के बारे अनन्तगुण हैं, कालपरिवर्तन के बारे भवपरिवर्तन के बारे से अनन्तगुण हैं, शेषपरिवर्तन के बारे कालपरिवर्तन के बारे से अनन्तगुण हैं और पुद्यल-परिवर्तन के बारे शेषपरिवर्तन के बारे से अनन्तगुण हैं।

पुद्यलपरिवर्तन का काल सबसे कम है। शेषपरिवर्तन का काल पुद्यल-परिवर्तन के काल से अनन्तगुण है, कालपरिवर्तन का काल शेषपरिवर्तन के काल से अनन्तगुण है, और भावपरिवर्तन का काल कालपरिवर्तन के काल से अनन्तगुण है।

इस प्रकार से दिग्म्बर साहित्य में पुद्यलपरिवर्तनों का वर्णन किया गया है।

## प्रश्नापनासूत्रगत कायस्थितिसम्बन्धी पाठांश

(प्रकरणगत वर्णन के अनुसार पाठांशों का क्रम है)

**एग्निदिएण भन्ते ! एग्निदिए त्ति कालओ केवचिर होइ ?**

**गोयमा ! जहन्नेण अन्तोमुहृत्तं, उक्कोसेण अणतं कालं, अणताओ उस्सप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ । खेताओ अणता लोगा, असंखेज्जा पोगलपरियद्वा । तेण पोगलपरियद्वा आवलियाए असंखेज्जह भागो ।**

**भदन्त ! एकेन्द्रिय जीव का एकेन्द्रिय रूप में कितना काल होता है ?**

**गीतम ! कालापेक्षा जघन्य से अन्तामुहूर्त और उत्कृष्ट से अनन्त उत्सप्पिणी-अवसप्पिणी प्रमाण अनन्त काल है । खेत से अनन्त लोक प्रमाण काल है, असंख्यात पुद्गलपरावर्तन है और वे परावर्तन आवलिका के असंख्यातवे भाग में रहे हुए असंख्यात समय जितने होते हैं ।**

**पुढविकाइएण भन्ते ! पुढविकाइए त्ति कालओ केवचिर होइ ?**

**गोयमा ! जहण्णेण अन्तोमुहृत्तं, उक्कोसेण असंखेज्जं कालं, असंखेज्जाओ उसप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ । खेताओ असंखेज्जा लोगा ।**

**एवं आउ-तेउ-बाउकाइयावि ।**

**वणपक्षकाइएण भन्ते ! वणपक्षकाइए त्ति कालओ केवचिर होइ ?**

**गोयमा ! जहण्णेण अन्तोमुहृत्तं, उक्कोसेण अणतं कालं, अणताओ उसप्पिणीओसप्पिणीओ कालओ । खेताओ अणता लोगा असंखेज्जा पोगलपरियद्वा, तेण पोगलपरियद्वा आवलियाए असंखेज्जह भागो ।**

भदन्त ! धूष्ठोकाय जीव का पृथ्वीकाय रूप में कितना काल बीतता है ?

गौतम ! कालापेक्षा जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रमाण असंख्यात काल व्यतीत होता है। क्षेत्रापेक्षा असंख्यात लोकाकाश प्रदेश प्रमाण है।

इसी प्रकार अप्काय, लेजकाय और कायुकाय के लिये समझना चाहिये।

भगवन् ! वनस्पतिकाय का वनस्पतिकाय के रूप में कालापेक्षा कितना काल है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी रूप अनन्त काल है। क्षेत्रापेक्षा अनन्त लोकाकाश प्रदेश-प्रमाण अथवा असंख्यात क्षेत्रपुद्गलपरावर्तन प्रमाण काल है। ऐ पुद्गलपरावर्तन आवलिका के असंख्यातवें भाग्यात समय प्रमाण जानना चाहिये।

तसकाइएण भते ! तसकाइए ति कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अतोमुहूर्त, उक्कोसेण दोसामरोबमसहस्राद संखेजजवाससहियाद।

पचिदिएण भते ! पचेदिए ति कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अतोमुहूर्त, उक्कोसेण सामरोबमसहस्रं साइ-ऐं।

भगवन् ! असकाय जीव असकाय रूप में कितने काल तक होते हैं ?

गौतम ! जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात वर्ष अधिक दो हजार सामरोपम पर्यन्त होते हैं।

भगवन् ! पचेन्द्रिय जीव पचेन्द्रिय रूप में कितने काल तक रहते हैं ?

गौतम ! जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से साधिक एक हजार सागरोपम तक रहते हैं ।

पुरिसंबेद्य भते ! पुरिसंबेद्य ति कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अलोमुहूर्त, उक्कोसेण सागरोबमसयपुहुत्त साहरेण ।

भगवन् ! पुरुषवेद का पुरुषवेद रूप से कितना काल है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से साधिक शतपृथक्षत्व सागरोपम काल जानना चाहिये ।

(स्त्रीवेद के सम्बन्ध में विशेष अवकाश होने से उसका पृथक् मिद्देश किया है ।)

नपुंसगवेद एं भते ! नपुंसगवेद ति कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण एकसमय, उक्कोसेण अण्टं कालं, अण्टाओ उस्सप्तिणीओस्सप्तिणीओ कालओ । लेसओ अण्टा लोगा, अस्सेज्जा पीगलपरियद्वा, आवलियाए असंख्यज्ञद भागो ।

प्रमु ! नपुंसकवेद का नपुंसकवेद रूप से कितना काल होता है ?

गौतम ! जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अनन्त काल । कालापेक्षा वह अनन्त उस्सप्तिणी-अवस्पिणी प्रमाण है और क्षेत्रापेक्षा अनन्त लोक अथवा आवलिका के असंख्यात्मे भाग प्रमाण असंख्य पुद्गलपरावर्तन प्रमाण है ।

(नपुंसकवेद का यह कायस्थितकाल सोध्यक्षारिक जीवों की अपेक्षा अनन्तना चाहिए ।)

सञ्जी एं भते ! सन्नि ति कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अलोमुहूर्त, उक्कोसेण सागरोबमसयपुहुत्त साहरेण ।

हे प्रभो ! सञ्जी का सञ्जी पञ्चेन्द्रिय के रूप में रहने का कितना काल है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से साधिक संतप्तपृथक्कर्तव सागरोपम काल है ।

बायरेगिदियपञ्जस्ताए ण भते ! बायरोगदयपञ्जस्ताए ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहूर्त, उक्कोसेण संखेज्जाइ वाससहस्राइ ।

भगवन् ! बारंबार बादर पर्याप्ति एकेन्द्रिय के रूप में उत्कृष्ट होते बादर पर्याप्ति एकेन्द्रिय का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्ष का काल है ।

बायरपुढविकाइयपञ्जस्ताए ण भते ! बायरपुढविकाइयपञ्जस्ताए ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहूर्त, उक्कोसेण संखेज्जाइ वाससहस्राइ ।

एवं आउकाएवि ।

बायर तेउकाइयपञ्जस्ताए ण भते ! बायरतेउकाइयपञ्जस्ताए ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहूर्त, उक्कोसेण संखेज्जाइ राहिदियाइ ।

बाउकाहए पर्योयसरीरबायरबणपकाहए य युच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहूर्त, उक्कोसेण संखेज्जाइ वाससहस्राइ ।

भदन्त ! बादर पर्याप्ति पृथ्वीकाय का बादर पर्याप्ति पृथ्वीकाय के रूप में कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्ष का होता है ।

इसी प्रकार अप्काय के विषय में भी जानना चाहिये ।

प्रभो ! बादर पर्याप्ति तेजस्काय का बादर तेजस्काय के रूप में रहने का कितना काल है ?

गीतम् ! जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात राशि-दिवस का है ।

बादर पर्याप्त बायुकाय और पर्याप्त बादर प्रत्येक वनस्पतिकाय का कायस्थिति काल कितना है ?

गीतम् ! जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात हजार वर्ष प्रमाण है ।

बैद्यदिए पं भते ! बैद्यदिए स्ति कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहूर्ता, उक्कोसेण संखेजज काल ।

एवं तेद्यदिव्यचतुर्विदिए वि ।

प्रभो ! बारंबार द्वीन्द्रिय रूप में उत्पन्न होते द्वीन्द्रिय का कायस्थिति काल कितना है ?

गीतम् ! जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात काल है ।

इसी प्रकार से श्रीन्द्रिय और चतुरभिद्य का भी काल समझना चाहिये ।

बैद्यदियपञ्जतए पं भते ! बैद्यदियपञ्जतए पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहूर्ता, उक्कोसेण संखेजाइ वासाइ ।

तेद्यदियपञ्जतए पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहूर्ता, उक्कोसेण संखेजाइ राइदियाइ ।

चतुर्विदियपञ्जतए पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहूर्ता, उक्कोसेण संखेजजा मासा ।

प्रभो ! पर्याप्त द्वीन्द्रिय रूप से उत्पन्न होते पर्याप्त द्वीन्द्रिय का कायस्थिति काल कितना है ?

गीतम् ! जघन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट संख्यात वर्ष है ।

भगवन् ! पर्याप्त श्रोन्द्रिय रूप से उत्पन्न होते श्रीन्द्रिय पर्याप्त का कायस्थिति काल किसना है ?

गीतम् ! जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात राशि-दिवस प्रमाण है ।

अगवन् ! पर्याप्त चतुरिन्द्रिय का पर्याप्त चतुरिन्द्रिय रूप में उत्पन्न होते कायस्थिति काल कितना है ?

जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से संख्यात मास है ।  
अपञ्जत्तए यं भते ! अपञ्जत्तए त्ति कालओ केवचिर होइ ?  
गोयमा ! जहन्नेण वि अतोमुहूर्त, उक्कासेण वि अन्तोमुहूर्त ।  
भगवन् ! अपर्याप्त रूप से उत्पन्न होते अपर्याप्त का कितना काल है ?

गौतम ! जघन्य और उत्कृष्ट से अन्तमुहूर्त काल है ।  
सुहुमे यं भते ! अपञ्जत्तए सुहुमअपञ्जत्तए त्ति कालओ केवचिर होइ ?  
गोयमा ! जहन्नेण अतोमुहूर्त, उक्कोसेणवि अन्तोमुहूर्त ।  
पुडविकाइय-आउकाइय-तेउकाइय-बाउकाइय-इणस्सइकाइयाथ [वि एव चेव ।

पञ्जत्तयाण वि एवं ।  
बायरनिगोयपञ्जत्तए य बायरनिगोयअपञ्जत्तए य पुच्छा ।  
दुन्निवि जहन्नेण उक्कोसेण वि अतोमुहूर्त ।  
प्रभो ! सूक्ष्म अपर्याप्त रूप से उत्पन्न होते सूक्ष्म अपर्याप्त का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से भी अन्तमुहूर्त है ।  
इसी प्रकार पृथ्वीकाय, अकाश, तेजस्काय, वायुकाय और बनस्पतिकाय का भी कायस्थिति काल जानना चाहिये ।

इनके पर्याप्त का भी इतना ही काल समझना चाहिये ।  
भगवन् ! बादर पर्याप्त निगोद और बादर अपर्याप्त निगोद रूप से उत्पन्न होते बादर पर्याप्त निगोद और बादर अपर्याप्त निगोद का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जघन्य से भी अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट से भी अन्तमुहूर्त है ।

सुहुमपुढविकाहए ण भते ! सुहुमपुढविकाहए ति कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण असंखिज्ज काल असंखिज्जाओ उसस्पिणीओस्पिणीओ कालओ, खेत्तओ असंखिज्जा लोगा ।

एवं सुहुमबाढकाहए-सुहुमतेउकाहए-सुहुमबाजकाहए-सुहुमवणस्स-इकाहए ।

प्रभो ! सूक्ष्म पृथ्वीकाय रूप से उत्पन्न होते सूक्ष्म पृथ्वीकाय का कायस्थिति काल कितना है ।

गीतम ! जधन्य अन्तमुहुत्त और उत्कृष्ट से कालायेका असंख्यात उत्सपिणी-अवसपिणी और खेत्रायेका असंख्यात लोकप्रमाण जानना चाहिये ।

इसी प्रकार सूक्ष्म अप्काय, सूक्ष्म तेजस्काय, सूक्ष्म वायुकाय और सूक्ष्म वनस्पतिकाय के लिए भी समझना चाहिये ।

बायरे ण भते ! बायरे ति कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोसेण असंखिज्ज काल असंखिज्जाओ उसस्पिणीओस्पिणीओ कालओ, खित्तओ अंगुलस्स असंखिज्जाहभाग ।

बायरवणस्सइकाहए पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहुत्त, उक्कोमेण असंखिज्जाओ उसस्पिणीओस्पिणीओ कालओ, खित्तओ अंगुलस्स असंखिज्जाहभाग ।

भदन्त ! बारम्बार बादर रूप से उत्पन्न होते बादर जीवों का कायस्थिति काल कितना है ?

गीतम ! जधन्य से अन्तमुहुत्त और उत्कृष्ट असंख्यात उत्सपिणी और अवसपिणी काल है तथा खेत्र से अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण काल है ।

भगवत् ! बादर वनस्पतिकाय रूप से उत्पन्न होते बादर वनस्पति जीव का कायस्थिति काल कितना है ?

गीतम् ! जबन्द से अन्तामुहूर्त और उल्कुष्ट असंख्यात उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल है। क्षेत्र से अंगुल के असंख्यातवे भाग प्रभाण काल है।

आहारए एं भते ! आहारए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! आहारए दुविहे पत्रती, त जहा-छउमत्थ-आहारए केवलि-आहारए य !

छउमत्थाहारए एं भते छउमत्थाहारए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण खुडगभवगहण दुसमयउण, उक्कोसेण असुखिज्ज्ञ काल असुखिजआओ उसपिणीओसपिणीओ कालओ, स्तितओ अंगुलसस असुखिज्ज्ञभाग ।

भगवन् ! काल से आहारक का आहारीरूपता का कितना काल है ?

गोटद ! आहारक दो प्रकार के वहे हैं यथा—१ छद्मस्थ आहारक, २ केवली आहारक ।

भगवन् ! छद्मस्थ आहारीपने का कितना काल है ?

गीतम् ! जघन्य से दो समय न्यून शुल्कभव और उल्कुष्ट से असंख्यात उत्सर्पणी-अवसर्पिणी रूप असंख्यात काल है और क्षेत्र से अंगुल के असंख्यातव भागप्रभाण काल है ।

बायरपुढविकाइए एं भते ! बायरपुढविकाइए त्ति कालओ केवचिरं होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहूर्त, उक्कोसेण सत्तरि सागरोदम-कोडाकोडीओ ।

एवं बायरआउकाइए वि ।

एवं जाव बायरखाउकाए वि ।

पत्तेयबायरखणस्सइकाइए एं भते ! पुञ्ज्जा ।

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहूर्त, उक्कोसेण सत्तरि सागरोदम-कोडाकोडीओ ।

भगवन् ! बादर पृथ्वीकायपने में बादर पृथ्वीकाय का स्वकाय-स्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जबन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है ।

इसी प्रकार बादर अप्काय का भी तथा यावत् बादर तेजस्काय, बादर वायुकाय का भी ज्ञात्वा ।

प्रभो ! प्रत्येक बादर वनस्पतिकाय का प्रत्येक बादर वनस्पति-कायपने का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जबन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागरोपम प्रमाण है ।

बायरनिगोएण भते ! बायरनिगोएत्ति कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहूर्त, उक्कोसेण सत्तरि सागरोपम-कोडाकोडीओ ।

भगवन् ! बादर निगोदपने में बादर निगोद का कितना काल है ?

गौतम ! जबन्य अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट सत्तर कोडाकोडी सागरोपम है ।

सुहुमे ए भते सुहुमेति कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहूर्त, उक्कोसेण असंखेज्जं कालं, असंखेज्जाओ उसपिण्ठीओसपिण्ठीओ कालओ, खेतओ असंखेज्जा लोगा ।

भगवन् ! सूक्ष्मपने से उत्पन्न होते सूक्ष्म का कायस्थिति काल कितना है ?

गौतम ! जबन्य से अन्तमुहूर्त और उत्कृष्ट असंख्यात उल्सपिण्ठी-अदसपिण्ठी काल है एवं क्षेत्र से असंख्यात लोकप्रमाण काल है ।

निगोएण भते ! निगोएत्ति कालओ केवचिर होइ ?

गोयमा ! जहन्नेण अंतोमुहूर्त, उक्कोसेण अण्टं कालं अण्टाओ उसपिण्ठीओसपिण्ठीओ कालओ, खेतओ अड्डाइज्जा पोगल परियद्वा ।

भगवन् ! कोई भी निमोद जीव वारम्बार निमोद में उत्पन्न हो तो उसकी कायस्थिति कितनी है ?

गौतम ! जघन्य से अन्तमुद्गृह्ण और उत्कृष्ट काल की अवेक्षा अनन्त उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी प्रभाण अनन्तकाल और क्षेत्र से छाई पुद्मलपरावर्तन काल है ।

### स्त्रीवेद विषयक कायस्थिति संख्याएँ मतान्तर

इत्थीवेद एं भंते ? इत्थीवेद त्ति कालओं के बचिर होइ ?

गोदमा !

१. एगोण आएसेण जहन्नेण एगं समयं, उक्कोसेण दसोत्तर पलिओबमसर्य पुब्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ।

२. एगोण आएसेण जहन्नेण एकं समयं, उक्कोसेण अट्ठारस पलि-ओबमाइ पुब्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइ ।

३. एगोण आएसेण जहन्नेण एगं समयं, उक्कोसेण चोहुस पलिओब-माइ पुब्वकोडिपुहुत्तमब्भहियाइ ।

४. एगोण आएसेण जहन्नेण एगं समयं, उक्कोसेण पलिओबमसर्य पुब्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ।

५. एगोण आएसेण जहन्नेण एगं समयं, उक्कोसेण पलिओबमपुहुत्त-पुब्वकोडिपुहुत्तमब्भहियं ति ।

भगवन् ! स्त्रीवेद का स्त्रीवेदपने में निरंतर कितना काल होता है ?

गौतम !

१. एक आदेश से जघन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोडि-पृथक्त्व अधिक एक सौ दस पल्योपम,

२. एक मत्त से जबन्य एक समय, उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक अठारह पल्योपम,

३. एक आदेश से जबन्य एक समय, उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक चौदह पल्योपम,

४. एक आदेश से जबन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटि-पृथक्त्व अधिक सौ पल्लोपम,

५. एक आदेश से जबन्य एक समय और उत्कृष्ट पूर्वकोटिपृथक्त्व अधिक पल्योपमपृथक्त्व होता है ।



## अनेक जीवापेक्षा अन्तरकालसम्बन्धी प्रजापनासूत्र का आदरशक पाठ

**गर्भज पञ्चनिष्ठ तिर्यच और मनुष्य**

मध्यवक्तव्यतिरिक्तजोणियाणं भसे ! केवइयं कालं विरहिया  
उवबाह्यं पश्यता ?

गोपमा ! जहन्नेण एवं समये, उक्कोसेण वारस मुहुता ।

मध्यवक्तव्यभणुह्याणं पुच्छा ।

गोपमा ! जहन्नेण एवं समये, उक्कोसेण वारस मुहुता ।

**देव सामान्य**

देवगर्भं भते केवइयं कालं विरहिया उवबाह्यं पश्यता ?

गोपमा ! जहन्नेण एवं समये, उक्कोसेण वारस मुहुता ।

**असुरकुमार आदि दस भवनपति देव**

असुरकुमाराणं भसे ! केवइयं कालं विरहिया उवबाह्यं पश्यता ?

गोपमा ! जहन्नेण एवं समये, उक्कोसेण चउक्षीसं मुहुता ।

नागकुमाराणं भते ! केवइयं कालं विरहिया उवबाह्यं पश्यता ?

गोपमा ! जहन्नेण एवं समये, उक्कोसेण चउक्षीसं मुहुता ।

एवं सुवन्नकुमाराणं, विजञ्जकुमाराणं, अविगकुमाराणं, वायुकुमाराणं, शीव-  
कुमाराणं, उवहिकुमाराणं, विशाकुमाराणं, थणियकुमाराणं, जहन्णेण एवं समये,  
उक्कोसेण चउक्षीसं मुहुता ।

**वायुव्यतर देव**

शाणमंतराणं पुच्छा ।

गोपमा ! जहन्नेण एवं समये, उक्कोसेण चउक्षीसं मुहुता ।

### बयोतिलक देव

जोइसियाण पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्मेण एर्ग समयं, उक्कोसेण चउचीसं मुहुत्ता ।

### वैमानिक देव

सोहमकर्त्ते देवाण असे ! केवइयं कासं विरहिया उववाएण ?

गोयमा ! जहन्मेण एर्ग समयं, उक्कोसेण चउचीसं मुहुत्ता ।

ईसाणकर्त्ते देवाण पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्मेण एर्ग समयं, उक्कोसेण चउचीसं मुहुत्ता ।

सणभक्तुपारकर्त्ते देवाण पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्मेण एर्ग समयं, उक्कोसेण नव राइदियाईं वीसं मुहुत्ता ।

माहेंद्रदेवाण पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्मेण अर्ग समयं, उक्कोसेण अर्ग राइदियाईं इसं मुहुत्ता ।

अभलीयदेवाण पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्मेण एर्ग समयं, उक्कोसेण अदतेवीसं राइदियाईं ।

लंकयदेवाण पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्मेण एर्ग समयं, उक्कोसेण पश्यालीसं राइदियाईं ।

महासुकदेवाण पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्मेण एर्ग समयं, उक्कोसेण असीईं राइदियाईं ।

महस्सारदेवाण पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्मेण एर्ग समयं, उक्कोसेण राइदियसयं ।

आण्यदेवाण पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्मेण एर्ग समयं, उक्कोसेण सखेज्जा मासा ।

वाण्यदेवाण पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्मेण एर्ग समयं, उक्कोसेण सखेज्जा मासा ।

आरणदेवाण पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्मेण एर्ग समयं, उक्कोसेण सखेज्जा मासा ।

अस्तुयदेवाण पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेण एवं समयं, उक्कोसेण संखेजता आसा ।

हेतुभवेजताणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेण एवं समयं, उक्कोसेण संखेजताइ बाससमाइ ।

भवेजतेभवेजताणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेण एवं समयं, उक्कोसेण संखेजताइ बाससहस्राइ ।

उवरिमवेजताणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेण एवं समयं, उक्कोसेण संखेजताइ बाससहस्राइ ।

विद्यवेजयंतजर्तभवराजियदेशाणं पुच्छा ।

गोयमा ! जहन्नेण एवं समयं, उक्कोसेण असंखेजं कर्त्त ।

सवदृढसिद्धेवाणं भते ! केवद्यं कालं विरहिया उवकाएणं पश्चाता ?

गोयमा ! जहन्नेण एवं समयं, उक्कोसेण पलिओवमरुतं संखेजहमारं ।

### नरकगति

निरयगई णं भते ! केवद्यं कालं विरहिया उवकाएणं पश्चाता ?

गोयमा ! जहन्नेण एवं समयमुक्तकोसेण बारस मुहूर्ता ।

रथण्यभापुदविनेरहया णं भते ! केवद्यं कालं विरहिया उवकाएणं पश्चाता ?

गोयमा ! जहन्नेण एवं समयं, उक्कोसेण चउडीसं मुहूर्ता ।

सक्करण्यभापुदविनेरहया णं भते ! केवद्यं कालं विरहिया उवकाएणं पश्चाता ?

गोयमा ! जहन्नेण एवं समयं, उक्कोसेण सत राईदियाइ ।

बालुयण्यभापुदविनेरहया णं भते ! केवद्यं कालं विरहिया उवकाएणं पश्चाता ?

गोयमा ! जहन्नेण एवं समयं, उक्कोसेण अङ्गमासं ।

पंक्षप्तभापुदविनेरहया णं भते ! केवद्यं कालं विरहिया उवकाएणं पश्चाता ?

गोयमा ! जहन्नेण एवं समयं, उक्कोसेण मासो ।

धूमण्यभापुदविनेरहया णं भते ! केवद्यं कालं विरहिया उवकाएणं पश्चाता ?

गोयमा ! जहन्नेण एवं समयं, उक्कोसेण दी मासा ।

समयभाषुहिनरेह्या एं भते । केवइयं कालं विरहिया उवधाएणं पश्चता ?  
गोयमा ! जहणीर्ण एं समय, उक्कोसेण चक्षारि माता ।  
जहुसत्तसपुद्धकनेरह्या एं अते केक्षयं कालं विरहिया उवधाएणं पश्चता ?  
गोयमा ! जहणीर्ण एं समय, उक्कोसेण चक्षारि माता ।

### संमुच्छ्वास नमुद्य

संमुच्छ्वासमणुस्तो एं भते । केवइयं कालं विरहिया उवधाएणं पश्चता ?  
गोयमा ! जहन्नेण एं समय, उक्कोसेण चक्षारि सुहृता ।

### विकलेन्द्रिय, संमुच्छ्वास पञ्चेण्ठिय तिर्थंच

वेहृदिया एं भते । केवइयं कालं विरहिया उवधाएणं पश्चता ?  
गोयमा ! जहन्नेण एं समय, उक्कोसेण वर्तीमुहृत । एवं सेइंद्रियक्षुर्दि-  
रियसंमुच्छ्वासपञ्चेण्ठियतिरिक्षजोणियाण य पत्तेयं जहन्नेण एं समय, उक्कोसेण  
वर्तीमुहृत ।

—प्रशापनासूत्र, व्युत्कार्तिपद

११

## शुल्कभव का प्रमाण

सबसे छोटे सब की शुल्कका या शुद्ध भव कहते हैं। यह एक विगोदिषा जीवों में पाया जाता है। क्योंकि उनकी विविध सब जीवों की अपेक्षा अति अच्छी होती है।

जैन कालगणना के अनुसार असंख्यत समय की एक आवधी होती है और अधिकार आवधी का उच्चकाल तिनों जन्म-होते हैं इन्हाँ के बाद तीन शुल्क भव कहते हुए दो घटिका का एक मुहूर्त होता है। यदि एक मुहूर्त में श्वासो-छूल्वासों की संख्या मासूम करना हो तो  $1\text{ मुहूर्त} \times 2\text{ घड़ी} \times 3\text{ घंटे} \times 7\text{ द्वितीय आदि इस प्रकार सबको गुणा करने पर } 3773\text{ संख्या आती है। इन } 3773\text{ इवासो-छूल्वास काल में यानि एक मुहूर्त में एक विगोदिषा जीव } 64546\text{ बार जन्म लेता है। अतः } 64546\text{ में } 3773\text{ से भाग देने पर } 17\frac{1}{3}\text{ अवधि आती है}$

है। जिसका आशय यह हुआ कि एक इवासो-छूल्वास काल में सश्वर्ह से कुछ अधिक शुल्कभव होते हैं और उसने ही समय में २५६ आवधी होती हैं।

आधुनिक कालगणना के अनुसार इसी शुद्धभव के काल का प्रमाण निकाला जाए तो उसको इस प्रकार समझना चाहिए—

एक मुहूर्त में अड्डतालीम विनिट होते हैं और इस मुहूर्त यानि अड्डतालीम विनिट में ३७७३ इवासो-छूल्वास होते हैं। अतएव इन ३७७३ की ४८ से भाग देने पर एक विनिट में लगभग साड़े अठहत्तर इवासो-छूल्वास अते हैं। अर्थात् एक इवासो-छूल्वास का काल एक संकिळ से भी कम का होता है। उतने काल में विगोदिषा जीव सश्वर्ह से भी अधिक बहर जन्म-मरण करता है।

यह है शुल्कभव की व्याख्या। जिससे उस शुद्धभव की शुद्धता का अनुमान सरलता से किया जा सकता है।

गो० जीवकांड में एक अन्तमुङ्गते में ६६३३६ शुद्ध बलाए हैं, यथा—

तिणिसया छत्तीसा छावटि सहस्रगाणि मरणाणि ।

अंतोभुद्धत्तकाले तावदिया चेव खुदभवा ॥१२३॥

अथात् लब्ध्यपर्याप्तक जीव एक अन्तमुङ्गते ६६३३६ बार मरण करता है। अतएव एक अन्तमुङ्गते में उतने ही योनि ६६३३६ शुद्धभव होते हैं और—

सीदी सट्ठी तालं वियले चउबीस होति पंचकले ।

छावटि च सहस्रा सयं च बस्तीस भेयकले ॥१२४॥

उन ६६३३६ भवाओं में से द्विन्द्रिय के ८०, त्रिन्द्रिय के ६०, चतुरन्द्रिय के ४०, पञ्चन्द्रिय के २४ और एकन्द्रिय के ६६१३२ शुद्धभव होते हैं।

इस प्रकार दिग्मन्त्र वर्षभरा के अनुसार एक पवास में एकन्द्रिय तिगोदिया जीव के १८ शुद्धभव होते हैं।



## गाथा—अकाराण्डनुक्तमण्डिका

गाथांश	ग्रा. सं./पृ.	गाथांश	ग्रा. सं./पृ.
ब्रह्मदत्तवल्लभीसु	३१३।१२८	प्रमिदिवाहिनिकामा	७६१।१५८
अपञ्जला दोनि वि	२४१।६४	कर्त्य वरीरे लोए	३१५
असंख्येहितपासतुलया	१६।४७	किचिदिया सामना	७६।१७५
असंख्या पण किचिहिय	७१।१६६	कि जीवा उवसमाइष्यहि	२४५
अहृषा एकपर्वद्या	८।२६	अवसा खीणा जोगी	२४।६०
अहृष्वगुलधारेसा	१६।५२	द्विषा लीणा जोगी	५३।१२६
अंधुलभुलसंविय	२०।५४	गद्यपतिरिमण्युमुर	५७।१३४
आवलियाण ल्लक्क	४२।१०४	चउदसविहा वि जीवा	१३३
आवलियाण आन्तरायसीध	१।१।३५	चउदसविहा वि जीवा	२६।७२
आईसाण अमरस्म	५।३।१४९	छट्टाय मेरहओ	३२।७६
इगदृगजोगाईण	७।।८६	छप्पनदोसंघमुल	१४।४५
ईसाग्ये सब्बल्यवि	६।४।१६३	ल्लप्पनदोसंघेगुल	१४।४६
उक्कोसपर संता मिच्छा	८।।१८८	लसोग्नुतर देशा	८६।१३८
उक्कोसपर मण्या	२।।१५३	तत्ती नयुसखहयर	७८।१६७
उवसमसेही उवमंतया	५।४।१३१	लसबायरसांहारण	५८।१३७
उवसामग उवसंता	३।३।७६	तेरस विद्विग्या हे	८४।१८४
उवसंत खवग जोगी	८।।१७६	शावरकातुकोसो	८।।१४३
उससिंणि समएमु	४।।१००	घोडा गबनयभण्डा	८४।१५३
एगाढ अचपणा समग	२।।१६०	पजत्तापजत्ता	१२।१३८
एगिदिम सुहुकियरा	८।।१८३	पजजस्तापजत्ता	७।।१७०
एगिदिस' समय	५।।१२६	पजजत्तापजत्ता	७।।१५६
एगिदियाण्णता	४।।११३	पत्तेय पजजबगकाइयाउ	१०।१३६

पापांशु	ग्रा. सं./पु.	गायांशु	ग्रा. सं./पु.
पत्तेय बादरस्स उ	५०१११२२	सत्ताष्टमपञ्चाशी	३४।८५
पलियासरखो साला.....	५४३।१४५	सज्जी अउसु यद्देसु	१३।३६
पुडकाइचउ चउहा	५।२२	समयाखो अंतमुहु	४४।१०८
पुरिलाल' सन्नित्त'	४८।१।१७	समयाखो अंतमुहु	४४।१११
पुल्कोडिपुहुल'	४७।१।१५	सम्माह अउसुतिय	४४।१५२
पोलगलयरियटो इह	३७।१।१५	सम्माह तिनिल गुणा	४४।१५२
पंचेनिदय तिरियाण	२८।१८	सहस्रारंतिय देखा	३४।१४५
बस्तीसा अडयालाः	५६।१।१२	सालण शीसाखी	५३।१२६
बालर लङ्ग निगोमा	७३।१।७२	सालायणाइचउरो	२२।४६
बालरपञ्चेनिदिय	४८।१।१०	सालायणाइ सन्वे	२३।१७
बाबीस सहस्रार्ह	५३।१।१५	सहस्रार्हाल देखा	४४।१४२
मिल्कुर अविरवदेसा	६।२५	सुकर्मि पंचमाए	५३।१४५
मिल्कुर सासभिस्ता	८३।१।१४	सुरवेरहया तिसु तिसु	४।२०
मीसार अलया बढ बठ	३।०४	सुहुसर बण्ठ असाका	७३।१४५
मोहुठिर्ब बायराण	५।१।१२ २४	सेडीएककेकपएसरहय	४४।४६
दलखलिया लहयर	६।१।१।६५	संकेजयगुणह तसो	७५।१७४
लोषस्त शप्तेसु	३४।१।१८	संकेजयजोयणाण	१४।४४
वासपुहुल' उमसामगाण	४२।१।५१	संकेजक सुहुम पञ्चास	७४।१७६
वेयग अविरह सम्बो	४३।१।०६	संसारमि अडंतो	३८।१४५
वेयग-कलाप-मारण	२।३।६८	होइ अगाह अण्ठतो	३६।१४२

□ □